मुद्रक:—
पं० गिरिजाशङ्कर मेहता
मेहता फाइन आर्ट प्रेस, नं० २८ चौखंभा
(जौहरी बाजार) काशी ।

उपहार

चित्रांगदा

[अनङ्गाश्रम]

चित्राङ्गदा, मदन और वसन्त

चित्राङ्गदा—आप हैं पञ्चबाण ?

मदन—हाँ, मैं वही मनोज हूँ। सकल नर-नारियों के हृदय को वेदना-बन्धन से—सुख-दुःख के बन्धन से बाँधता हूँ।

चित्राङ्गदा—क्या है वह वेदना और क्या है वह बंधन सो यह दासी जानती है। प्रभो ! प्रणाम करती हूँ मैं आपके चरणों में [वसंत की ओर देखकर] आप कौन हैं देव ?

वसन्त—मैं ऋतुराज हूँ। जरा और मृत्यु ये दोनों दैत्य, क्षण-क्षण में विश्व का हाड़-पिंजर बाहर निकाल लेना चाहते हैं। वे विश्व को चूसकर कङ्काल कर डालना चाहते हैं। मैं उन दैत्यों का पीछा करता हुआ फिरता हूँ। पद-पद पर उनपर आक्रमण करता हूँ। रात-दिन यह संग्राम चल रहा है। मैं सब विश्व का अनन्त-यौवन हूँ।

चित्राङ्गदा—आपको प्रणाम करती हूँ भगवन् ! देव-दर्शन से यह दासी कृतार्थ हुई।

मदन—कल्याणी, किसलिए तेरा यह कठोर व्रत है ? क्यों तू तपस्या के ताप से इस मनोरम यौवन-कुसुम को मलीन कर रही है। अनङ्ग-पूजा की तो ऐसी विधि नहीं होती। भद्रे ! यह बतला कि तू कौन है और क्या चाहती है।

चित्राङ्गदा—यदि आप कृपा करते हैं, तो पहले मेरी राम-कहानी सुनिए। फिर मैं यह बतला दूँगी कि मैं क्या चाहती हूँ, क्या प्रार्थना करती हूँ।

मदन—अच्छी बात, मैं राम-कहानी सुनने को समुत्सुक हूँ। कह।

चित्राङ्गदा—मेरा नाम चित्राङ्गदा है। मैं मणिपुर की राजकुमारी हूँ। उमापति महादेव का यह वरदान था कि मेरे पितृ-वंश में कभी कन्या न उत्पन्न होगी। मेरे पूर्वजों के तप से संतुष्ट होकर शंकर ने यह वर दिया था। परंतु मैंने उसी महावर को व्यर्थ कर डाला। अमोघ देव-वाक्य मेरी माता के गर्भ में प्रवेश करके शैवतेज के प्रभाव से भी मुझे पुरुष न कर सका, मैं ऐसी कठोर नारी हूँ।

मदन—हाँ, यह तो सुना है। इसीलिए तेरे पिता ने मुझे पुत्र के समान पालन किया है। धनुर्विद्या और राजनीति में पारङ्गत किया है।

चित्राङ्गदा—इसीसे मैं पुरुष-वेश में रहती हूँ, युवराज की भांति राज-काज करती हूँ, मनमानी सैर करती फिरती हूँ, लज्जा और भय किसे कहते हैं सो नहीं जानती, अन्तःपुर का रहना नहीं जानती, हाव-भाव नहीं जानती, विलास-चातुरी नहीं जानती, हाँ, धनुर्विद्या सीखी हूँ, परन्तु देव, नहीं जानती हूँ कि नयन के अपाङ्ग से आपका पुष्पधनुप कैसे चलाना चाहिए।

वसन्त—सुलोचने, इस विद्या को कोई स्त्री सीखा नहीं करती, आँखें अपना काम कर लेती हैं, जिसके जी में लगती है वही समझ जाता है।

चित्राङ्गदा—एक रोज मैं मृगया के मृग को खोजने के लिए पूर्णानदी के तीर पर सघन वन में अकेली गई थी। घोड़े को मैंने

वृक्ष के मूल से बाँध दिया। मृग के पद चिन्हों का अनुसरण करती-करती मैं दुर्गम वन के बाके-टेढ़े मार्ग पर जा पहुँची। झिल्लियों की झनकार हो रही थी। अंधेरा सब ओर छाया हुआ था। लतागुल्मों से अरण्य, गहनगंभीर हो रहा था। मैं इस महारण्य मे आगे बढ़ी तो एक संकड़े मार्ग पर फटे कपड़े पहने हुए मलिन पुरुप पड़ा हुआ देख पड़ा। मैंने अवज्ञा भरे स्वर में उससे कहा कि 'हट, रास्ता छोड़'। परन्तु वह न खिसका। खिसकना-हटना तो दूर रहा, उसने आँख उठाकर देखा तक नहीं। मुझे रोष चढ़ आया। मैंने बड़ी ही उद्धता से तीर की नोक से उसकी ताड़ना की। वह सरल दीर्घकाय नर तत्काल बडे ही वेग से उठकर मेरे सामने खड़ा हो गया, मानो कजलाता हुआ अग्नि घृत की आहुति पाकर देखते-न-देखते ही प्रचंड वेग से ज्वाला के रूप में उठ खड़ा हो। थोड़ी देर भी वह मेरी ओर न देख पाया था कि उसका रोप न जाने किधर काफूर हो गया और उसके अधरों पर मन्द-मन्द स्मित की रेखाएँ नाचने लग गईं। जान पड़ता है मेरी बाल-मूर्ति देखकर उसकी यह दशा हो गई होगी। मैंने पुरुपों की विद्या सीखी है, पुरुषों का ही वेश धारण किया है और पुरुषो का ही साथ दिया है। इतने दिनो मे कभी मुझे यह विचार नहीं उठा कि मैं स्त्री हूँ। परन्तु जब से उस मुख को देखा है और अपने हृदय में अटल रूपसे अंकित हुई उस मूर्ति के दर्शन किए हैं तभी से मैंने अपने मन मे जाना है कि मै स्त्री हूँ और उसी समय, पहले-पहिल अपने सामने पुरुष को देखा है।

मदन—सुलक्षणे! यह मेरी ही शिक्षा है। एक दिन जीवनी की किसी परम पावन छिन मे मै ही स्त्री मे स्त्रीपन की और पुरुष से पुरुषपन की भावना को चेतन कर देता हूँ। अच्छा फिर क्या हुआ?

चित्राङ्गदा—डरते-डरते अचरज भरे स्वर से मैंने पूछा कि 'आप कौन हैं ?' उत्तर में सुनाई दिया कि 'मै कुरुवंशी पार्थ हूँ।'

मैं चित्र की भांति खड़ी-की-खड़ी रह गई। प्रणाम करना भी भूल गई। यही पार्थ हैं ? ये ही मेरे जीवन भर का विस्मय हैं ? हाँ, सुना था कि सत्य-प्रतिज्ञा पालने के लिए अर्जुन बारह वर्ष का ब्रह्मचर्य धारण कर वन वन में घूमता फिरता है। यही है वह पार्थवीर ! बचपन की दुराशा के वशीभूत होकर मैं कितने दिनों से सोच रही थी कि मै अपने भुजबल से पार्थ की कीर्ति को निष्प्रभ कर दूँगी। मेरा वार खाली न जायगा। पुरुष के इस बनावटी वेश में उससे संग्राम की याचना कर अपनी वीरता का परिचय दूँगी। अरे ना समझ; कहाँ गई वह तेरी स्पर्धा ! जिस भूमि पर वे खड़े हैं, उस भूमि का यदि मैं तृणसमूह होती, सारी शूर-वीरता को धूल में मिलाकर उनके चरणतल में दुर्लभ मृत्यु को पाती—

याद नहीं पड़ता कि मैं किन-किन विचारों में डूब गई। आँख उठाकर देखा तो वीर तो वन के भीतर चल दिया। मैं चौंक पड़ी। उसी समय सुधबुध आई। अपने को सौ-सौ धिक्कार देने लगी। छिः ! छिः !! मूर्खे, तूने बातचीत भी न की, हाल भी न पूछा, क्षमा भी न मांगी—जंगली की भांति खड़ी रही—और तो अवहेलना कर चला गया। उसी समय यदि मैं मर जाती तो इस कष्ट से बच जाती—

दूसरे दिन प्रातःकाल ही मैंने पुरुष-वेश को अलग कर दिया। लाल साड़ी पहन ली और कङ्कण-किङ्किणी एवं काञ्ची धारण कर ली। इस वेशभूषा का अभ्यास न होने से मारे लज्जा के मेरा अंग-अंग संकोच में भर गया। मैं एकान्त में ही रही।

छिपकर मैं उसी वन में पहुँची। वहाँ जंगल के शिवालय में मैंने उन्हे देखा।'

मदन—कहे जा! कहे जा!! मेरे सामने संकोच न कर। मैं मनोज हूँ, मन के सारे रहस्यों को जानता हूँ।

चित्राङ्गदा—अच्छी तरह याद नहीं है कि मैंने क्या कहा और क्या उत्तर सुना। अधिक न पूछिए भगवन्! मैं स्त्री हूँ, तथापि पुरुषों के समान ऐसी प्राणवाली हूँ कि लज्जा वज्ररूप होकर मेरे सिर पर टूट पड़ी तो भी वह टुकड़े-टुकड़े न कर सकी। मुझे स्मरण नहीं आता कि दुःस्वप्न से विह्वल हुई सी मैं कैसे घर लौट आई। तपाए हुए शूल के समान उसकी अन्तिम बात मेरे कानों में चुभने लगी कि "वराङ्गने, मैंने ब्रह्मचर्य का व्रत धारण कर रक्खा है। मैं पति होने के योग्य नहीं हूँ।"

पुरुष का ब्रह्मचर्य क्या! धिक्कार है मुझे यदि मैं उसे नष्ट न कर सकूं। मकरध्वज! आप जानते हो कि कितने-कितने ऋषि-मुनियों ने अपनी चिरकाल की तपस्या से कमाए हुए फल को नारी के चरणतल में विसर्जित किया है। क्षत्रिय का ब्रह्मचर्य!

घर पहुँचकर मैंने धनुष-बाण तोड़ फेंका। यह पिणाछ से कठोर हुआ करतल जो इतने समय तक मेरे अभिमान का कारण था, मुझसे तिरस्कृत हुआ। इतने दिनों के बाद मेरी समझ में आया कि यदि स्त्री होकर भी मैं पुरुष के चित्त को न जीत सकी, तो सारी विद्या वृथा है। अबलाओं के मृणाल-कोमल दो बाहु इन बाहुओं से सौगुने बलवाले हैं। धन्य हैं वे परावलम्बिनी मूर्ख तन्वङ्गियाँ—साधारण नारियां—जिनके अपाङ्गपात से वीर्यबल और तपस्या के फल पराभव पाते हैं? हे अनङ्गदेव, आपने पलभर में मेरा सारा गर्व चूर कर डाला, मेरी सारी विद्या और बल अपने पैरों में झुका

लिया। अब मुझे अपनी विद्या सिखलाइए, मुझे अबला का बल दीजिए, निरस्त्रों के अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित कीजिए।

मदन—मैं तेरी सहायता करूंगा। अयि शुभे, विश्वविजयी अर्जुन को जीत कर मैं तेरे सामने क़ैद कर लाऊंगा। मह सम्राज्ञी होकर अपनी इच्छा के अनुकूल तू उसे दण्ड या पुरस्का देना। विद्रोही पर शासन करना।

चित्राङ्गदा—समय होता तो मैं अकेली ही उनके हृदय पर अधिकार जमा लेती और देव की सहायता न चाहती। उनका साथी बनकर साथ रहती, रणक्षेत्र में सारथी बनती और मृगया के समय अनुचर हो पीछे-पीछे फिरती रहती। छावनी में रात भर तम्बू के बाहर खड़ी-खड़ी पहरा देती, सेवक की तरह सेवा करती और क्षत्रिय के आर्तत्राणव्रत में मैं उनकी सहायता करती—एक-न-एक दिन आश्चर्य चकित होकर वे भी देख लेते और मन-ही-मन अवश्य समझ जाते कि 'यह बालक पूर्व-जन्म का कोई चिरदास है और इस जन्म में पूर्वोपार्जित पुण्य-कर्म की भांति मेरे साथ ही जन्मा है।' धीरे-धीरे मैं उनके हृदयद्वार को खोलती और उसमें सदा के लिये स्थान कर लेती। मैं यह जानती हूँ कि मेरा प्रेम रोने-धोने का प्रेम नहीं है, जो आजन्म विधवा, अपनी चिर मर्म-व्यवस्था को रात के समय, चुप-चाप धीरज के साथ, अपने नयनजल से पोषण करती है और दिवस के प्रकाश में मलिनतर हँसी में उसे ढाँक देती है, मैं उसके समान रमणी नहीं हूँ। मेरी कामना कभी निष्फल न होगी। एक बार भी यदि मैं अपने को दिखला सकूं तो अवश्य मैं उन्हें अपने हाथ में कर सकती हूँ। हाय विधाता उस दिन मैं कैसी दिखलाई दी थी! शरम से सिमटकर थरथराती हुई एक शंकित नारी! सुध-बुध भूलकर प्रलाप करती हुई एक अबला! परन्तु

वास्तव में क्या मैं वैसी हूँ? हजारों स्त्रियाँ हाट-बाट और घरों में केवल रोते रहने की अधिकारिणियाँ हैं, क्या उनकी अपेक्षा मैं कुछ विशेषता वाली नहीं हूँ! परन्तु अपनी पहचान करा देना सहज बात नहीं है। इसके लिये बहुत धैर्य चाहिये; बहुत समय चाहिए। यह काम चिरजीवन का काम है—जन्म-जन्मान्तर का व्रत है। इसी लिये मैं आपके द्वार पर आई हूँ, कठोर तप कर रही हूँ। हे भुवनविजयी देव, हे परम सुन्दर ऋतुराज, बिना अपराध विधाता के दिए हुए अभिशाप को केवल एक दिन के लिये मिटा दो, इस नारी के कुरूप को हटा दो, मुझे परम सौन्दर्य की छटा दो। मुझे एक दिन के लिये परम सुन्दरी बना दो। फिर तो मैं सदा के लिये सब कुछ संभाल लूंगी—जब पहले मैंने उन्हे देखा था, तब मेरे हृदय में अनन्त वसन्त अपूर्व शोभा से खिल उठा था—सम्पूर्ण सौंदर्य से प्रेम प्रकट हुआ था। मुझे इस बात की बड़ी भारी लालसा उत्पन्न हुई थी कि यदि यही वसन्त देखते-देखते ही यौवन-समीर से पुलकावली उत्पन्न करता हुआ लक्ष्मी के चरणशायी पद्म की भांति मेरे सारे शरीर पर खिल उठे—यदि यही प्रेम अपने सम्पूर्ण सौंदर्य को मेरे अंग-अंग पर प्रकट कर दे, तो बड़ा ही आनन्द हो। हे बसन्त, हे वसन्त सखा! मेरी उस वासना को पूर्ण करो, केवल एक दिन के लिये पूर्ण करो।

मदन—तथास्तु।

वसन्त—तथास्तु। केवल एक दिन के लिये ही नहीं, सारे वर्ष भर वसन्त की पुष्पशोभा खिलखिला कर तेरे अंग-प्रत्यंग पर छाई रहेगी—तेरा रूप तेरे आन्तरिक प्रेम के समान ही सौंदर्य-मय बना रहेगा।

मणिपुर के अरण्य का शिवालय

[अर्जुन]

अर्जुन—हैं! मैंने क्या देखा? यह सत्य है या माया? निबिड़ निर्जन वन में निर्मल सरोवर—कैसा शान्त एकान्त स्थान है, जान पड़ता है कि मध्यान्ह के सुनसान समय में यहाँ पर वनलक्ष्मी स्नान करती होगी—गम्भीर पूर्णिमा की रात में प्रसुप्त सरोवर के हरे भरे स्निग्ध तट पर अञ्चल हटा और निश्शंक होकर सुखपूर्वक विश्राम करती हुई सोती होगी।

वहीं वृक्षों की आड़ मे मैं सायंकाल के समय अपने बचपन से प्रारम्भ कर जीवन भर की गत घटनाओ को सोच रहा था। संसार की उलट-पलट, इस मरणशील मानव के सुखदुःख, मूर्खता भरे खेल-कूद, पूरी न होती हुई आशाएँ जीवन का असन्तोष, अनन्त दारिद्र्य, इत्यादि न जाने किन-किन बातों के ध्यान में पड़ा था। इतने मे ही वृक्षराजि के अंधेरे से धीरे-धीरे बाहर निकल कर न मालूम कौन सरोवर की सीढ़ियों के सफेद शिला-तट पर आ खड़ी हुई। क्या अपूर्व रूप था! उसके कोमल चरणतल के नीचे धरातल कैसा निश्चल हो गया था—पृथ्वी का अन्तःकरण मारे आनन्द के कैसा उछलने लगा था। जैसे उषा के सुनहले बादल पूर्व-पर्वत की सफेद चोटियों के निष्कलंक नग्न-सौन्दर्य को विकसित कर विस्मय को प्राप्त हो जाते हैं, वैसे ही वसन-समूह उसके अङ्ग के लावण्य में बड़े सुख से विलीन होना चाहता था। सरोवर के तीर से झुक कर उसने बड़े कौतुक के साथ अपने मुख की छाया देखी और चौंक उठी। छिनभर के बाद मन्द-मन्द मुसकराई। बाएँ हाथ को हिलाया और बड़ी बेपरवाही से केशपाश को छुड़ा कर दिया। छूटे हुए केश विह्वल

होकर चरणों के पास आ गिरे। अञ्चल को खिसका कर स्निग्ध स्पर्श और करुणा-भीने अपने अनिन्दित बाहुओं को देखने लगी। सिर झुका कर खिले हुए देहतट में यौवन के सुन्दर विकास को निरखने लगी, अपने गौर शरीर पर लाज भरी लाली की झलमल करती हुई प्रभा को निहारने लगी, और सरोवर में अपने दोनों पाँवों को लटका कर अपने चरणों की छवि का अवलोकन करने लगी—आश्चर्य की सीमा न रही, मानों अपने आपको उसने पहलेपहल ही न देखा हो! जैसे श्वेतकमल जीवन भर मुँदा रहकर किसी प्रभात में खिल उठे और वह ग्रीवा को झुका कर नील सरोवर के जल में पहले-पहल अपनी शोभा को देखकर आश्चर्यचकित हो जाय, वैसे ही यह आश्चर्यचकित होकर अपने आपको देखती रही। थोड़ी देर में ही न जाने किस दुःख से उसकी हँसी मुख की गम्भीरता में पलट गई। दोनों आँखें म्लान हो गईं। केशपाश को उसने बाँध दिया। अञ्चल से देह को ढंक लिया। फिर औंधी साँस लेकर धीरे-धीरे चली गई-मानों सुनहली साँझ, म्लान मुख करके धीरे-धीरे अंधेरी रात की ओर चली जाती हो।

मैंने अपने मन में सोचा कि रत्नगर्भा वसुन्धरा ने अपने सारे ऐश्वर्य को दिखला दिया। क्षणभर में कामना की सम्पूर्णता दिखलाई दे गई। सोचने लगी कि इस सम्पूर्ण सौन्दर्य के सामने कितने युद्ध, कितनी हिंसा, कितने आडम्बर, पुरुष के पौरुषगौरव, वीरत्व की नित्यकीर्ति तृषा, इत्यादि शान्त होकर भूमि पर लोटने लगते हैं, मानो सिंहवाहिनी भगवती शक्ति के भुवनवांछित अरुण चरणतल में वनराजसिंह लोट रहा हो। यदि एक बार उसे और—दरवाजे को किसने खटखटाया?

(दरवाजा खोल कर)

यह क्या! वही मूर्ति आ गई! हे हृदय शान्त हो! (चित्राङ्गदा से) सुमुखि! डर न जाना, कोई डर नहीं है। मै दुर्बल और भयभीतों का भय हरनेवाला क्षत्रियकुल में पैदा हुआ पुरुष हूँ।

चित्राङ्गदा—आर्य, आप मेरे अतिथि हैं! यह मेरा आश्रम है। मै नहीं जानती हूँ कि अभ्यर्थना कैसे करूं और किस तरह सत्कार कर आपको सन्तुष्ट करूं।

अर्जुन—हे सुन्दरि! तेरे दर्शन से अतिथि-सत्कार हो गया है। तेरे मधुरालाप का सुनना मेरा परम सौभाग्य है। हाँ, मेरे मन मे एक बड़ा ही अचम्भा हो रहा है। यदि अपराध न समझा जाय तो मै एक बात पूछना चाहता हूँ।

चित्राङ्गदा—निर्भय होकर आनन्द से पूछिए।

अर्जुन—शुचिस्मिते! किस महा कठोर व्रत की साधना के लिये हतभाग्य मर्त्यलोक को वंचित कर इस निर्जन देवालय में ऐसी अनुपम रूपराशि को विसर्जित कर रही है।

चित्राङ्गदा—एक गुप्त कामना को साधने के लिये एक चित्त होकर मैं शिवपूजा कर रही हूँ।

अर्जुन—जगत भर की कामना का धन किसकी कामना कर रहा है। सुदर्शने! पूर्वाचल से अस्ताचल पर्यन्त मैंने पर्यटन किया है। सातों द्वीप और नवों खण्डों में, जहाँ कहीं जो कुछ सुन्दर, दुर्लभ, अचिन्त्य और महत्वपूर्ण है सब मैंने अपनी आँखों से देखा है। कह तेरी क्या इच्छा है—तू किसे चाहती है? यदि तू मुझसे कहेगी तो मैं उसका पता दूँगा।

चित्राङ्गदा—मैं जिसे चाहती हूँ वह तीनों लोक में सुप्रसिद्ध है।

अर्जुन—ऐसा पुरुष कौन है? किसका कीर्ति-कलाप तेरे देवदुर्लभ मनोराज्य के हृदयासन पर बैठा है। जरा उसका नाम तो बतला कि मैं भी उस नाम को सुनकर कृतार्थ होऊं।

चित्राङ्गदा—उनका जन्म सर्वोत्तम नृपकुल में हुआ है और वे स्वयं सर्वश्रेष्ठ वीर हैं।

अर्जुन—मिथ्या कीर्ति एक मुख से दूसरे मुख में और दूसरे से तीसरे में, यों फैलती फैलती संसार में फैल जाया करती है। क्षण-स्थाई तुषार सूर्योदय के न होने तक उषा को ढंक देता है। हे सरले, इस दुर्लभ सौन्दर्य-सम्पत्ति से मिथ्या की उपासना न करना। कह! सुनूं तो सही कि पृथ्वी के सर्वोत्तम नरपतिकुल का वह सर्वश्रेष्ट वीर कौन है?

चित्रांगदा—पराई कीर्ति को सहन न कर सकनेवाले आप कौन संन्यासी हैं! कौन नहीं जानता है कि इस भुवन में कुरुवंश सारे राजवंशो का शिरोमणि है?

अर्जुन—कुरुवंश!

चित्राङ्गदा—हां, उसी वंश में अखण्ड यशोराशि वाला वीरेन्द्र केसरी कौन है? सुना है उसका नाम?

अर्जुन—अच्छा, बतला तेरे ही मुख से सुनना चाहता हूँ!

चित्राङ्गदा—भुवन-विजेता गाण्डीव धनुर्धर अर्जुन! सारे जगत में-से इस अक्षय नाम को लूट बड़े यत्न के साथ इस कुमारी हृदय मे छिपा रक्खा है। ब्रह्मचारी, आपको यह अधीरता क्यो? तब क्या यह बात मिथ्या है? क्या अर्जुन नाम मिथ्या है? कहिए, अभी कहिए, यदि मिथ्या हो तो इसी समय हृदय को फाड़ कर उस नाम को बाहर निकाल फेंकूं एक मुख से दूसरे मुख मे और दूसरे से तीसरे में यों भले ही वह हवा मे उड़ता-उड़ता संसार मे फैला करे, उसके लिये नारी के अन्तःस्थल में जगह नही है।

अर्जुन—वराङ्गने! वही अर्जुन, वही पाण्डव, वही गाण्डीव धनुर्धर, वही भाग्यवान् तेरे चरणों में शरण आया है। उसकी

नामवरी, उसकी प्रसिद्धि, उसकी वीरता, सच हो या मिथ्या, परन्तु जिस देवदुर्लभ लोक में उसे स्थान दिया है वहां से उसे अलग न कर—पुण्य क्षीण हो जाने पर स्वर्ग के गिरते हुए हत-भाग्य तारक के समान उसे हृदयासन से न गिरा।

चित्रांगदा—आप ही हैं पार्थ !

अर्जुन—हाँ देवि, तेरे हृदयद्वार का प्रेमार्त अतिथि पार्थ मैं ही हूँ।

चित्रांगदा—मैंने सुन रखा है कि अर्जुन बारह वर्ष के लिये ब्रह्मचर्य धारण किए हुए हैं। क्या वही वीर-व्रत को भंग कर कामिनी की कामना कर रहा है। हे संन्यासी, आप पार्थ हैं ?

अर्जुन—जैसे चन्द्रमा आसमान पर चढ़कर क्षण भर में रात की योगनिद्रा-तमोराशि को भंग कर देता है, वैसे ही तूने मेरे व्रत का भंग कर दिया है।

चित्रांगदा—धिक्क पार्थ धिक्क ! मैं कौन हूँ, मुझमें क्या है, आपको क्या देख पड़ता है, मुझे आप क्या समझते हैं, किसके लिये आप अपने को भुलाए देते हैं ? किसके लिये क्षणभर में सत्य-भंग कर अर्जुन को अनर्जुन किए देते हैं ? क्या मेरे लिये ? नहीं, इन नील-कमल के ऐसे नयनों के लिये। दोनों हाथों से सत्य-बन्धन को तोड़कर सव्यसाची नवनीत से भी मुलायम इन दोनों बाहुपाश में अपने आपको आपने बाँध दिया है। कहां गई प्रेम की मर्यादा ? कहा गया नारी का सम्मान ? हाय, इस तुच्छ देह ने मेरा पराभव किया ! इस क्षण-स्थाई कपट-वेश ने अमर-अन्तःकरण पर विजय पाई ! अब मैं जान सकी हूँ, आपकी ख्याति मिथ्या है—शूर-वीरता झूंठी है।

अर्जुन—हाँ, अभी समझ सका हूँ कि मेरी ख्याति और शूर-वीरता मिथ्या है। आज मुझे सातों लोक स्वप्न के समान जान

पड़ते हैं। केवल तू ही नारी है। एक मात्र तू ही पूर्ण दिखलाई देती है। तू ही सब कुछ जान पड़ती है, विश्वभर का ऐश्वर्य तू ही समझ पड़ती है, सारी दरिद्रता का विनाश तू ही समझ में आती है, और एक मात्र तू ही परिश्रम का विश्राम-स्थान जान पड़ती है, कौन जाने तुझे देखकर एकाएक यह बात क्यो ध्यान में आये जाती है कि अन्धकार के महार्णव मे जब आनन्द किरण का प्रथम प्रभात हुआ था, तब सृष्टिकमल एक क्षण भर मे दिशा-दिशाओं में खिल उठा था।-बहुत दिन भले ही लग जांय, परन्तु और सब, धीरे-धीरे, थोड़ा-थोड़ा कर समझ में आ जाते हैं, किन्तु जब तेरी ओर देखता हूँ तभी तू सम्पूर्ण रूप से दिखलाई देती है, कुछ कमी नहीं जान पड़ती, तथापि मैं तेरा पार नहीं पाता। एक बार मृगयाक्लान्त होकर मैं दोपहर के समय प्यासा और सन्तप्त हुआ कैलास शिखर पर पुष्पों से सुशोभित हुए मानस-सरोवर के तीर पर गया। देखा तो जान पड़ा कि उस सुर-सरोवर मे निर्मल मोती के ऐसा स्वच्छ जल भरा हुआ है। स्पष्ट देख पड़ने पर भी कुछ पता नहीं है कि तल-देश कितना गहरा है। अनन्त गम्भीरता जान पड़ी। मध्यान्ह के सूर्य की किरणें स्वर्ण नलिनी के सुवर्ण मृणाल के साथ मिलकर अगाध और असीम जल में मिल, जल की हिलोर के साथ हिल रही हैं, मानों करोड़-करोड़ ज्वालामयी नागिनें लहरा रही हैं। जान पड़ा कि सहस्रकर भगवान सूर्य हजार उंगलियो से इशारा कर यह बतला रहे हैं कि जन्मश्रान्त और कर्मशान्त मनुष्यो के चिर विश्राम करने का अनन्त शीतल और सुन्दर स्थान यही है। वही निर्मल अतल-गम्भीरता मुझे तुझमे दिखलाई देती है। चारों ओर से देव इशारा कर मुझे समझा रहा है कि मेरे कीर्तिक्लिष्ट जीवन का निर्वाण तेरे अलौकिक सौंदर्य के आलोक में ही है।

चित्रागदा—नहीं, नहीं, पार्थ, मै ऐसी नहीं हूँ। यह देव का इन्द्रजाल है। जाओ जाओ लौट जाओ, वीर! मिथ्या की उपासना न करो! मिथ्या के चरणों में अपने शौर्य, वीर्य और महत्त्व को बलि न दो। जाओ लौट जाओ।

तरुतल में चित्राङ्गदा

चित्रांगदा—हाय-हाय! क्या मैं उसे फेर सकती हूं! उस वीर हृदय की थर थर कांपती हुई व्याकुलता—तृष्णार्त, कंपती हुई चिनगारियाँ उड़ानेवाली होमाग्नि की शिखा ही हो, मानों; वह नयनों की दृष्टि मानों अन्तर का बाहुपाश होकर मुझे बांध लेती हो, वह सन्तप्त हृदय सारे शरीर को तोड़-मरोड़ कर बाहर निकले आ रहा हो, वह आक्रनन्दन ध्वनि कानों में भर गई हो, क्या मै इस तृष्णा को लौटा दे सकती हूं।

(वसन्त और मदन का प्रवेश)

हे अनंगदेव, यह मुझे किस रूपहुताश ने घेर ली, जले जाती हूं और जलाए देती हूं।

मदन—कह तन्वि, कल के हाल कह। सुनने की बड़ी भारी इच्छा है कि मेरे छोडे हुए पुष्पबाण ने कैसा काम सिद्ध किया।

चित्रागदा—कल सायङ्काल को सरोवर के तृणपुञ्ज पर वासन्तिक फूलों को फैला कर मैंने फूलों की सेज बिछाई थी। हारी-थाकी मैं बाएँ हाथ पर अपने अवसन्न शिर को रखकर वहीं लेट गई। मन-ही-मन दिन की घटना को स्मरण करने लगी। अर्जुन के मुख से जो स्तुति सुनी थी और उनको जो अनुचित वचन मैंने कहे थे, उसकी याद आ रही थी। सारे दिन में जो

अमृत इक्ट्ठा किया था, उसमें-से एक-एक बूंद करके सोते-सोते अकेली पान कर रही थी। पूर्व जन्म की बात की तरह अपना सारा इतिहास भूल गई थी। मानों मैं राजकुमारी नहीं हूँ। माता-पिता रहित एक प्रभात में खिल उठने वाला जंगली फूल ही हूँ। केवल एक प्रभात जिसकी परम आयु है। इसी समय में भ्रमर का गुञ्जार सुन लेना होगा, वन का आनन्दमर्मर शब्द सुन लेना होगा, फिर नीलाकाश से दृष्टि को हटा और गर्दन को झुकाकर हवा के झोंको से चुपचाप—बिना उफ किए स्थिर पड़ना होगा। बस आदि अन्त हीन यही मेरी उड़ जानेवाली कुसुम-कहानो है।

वसन्त—एक प्रभात मे तो सुन्दरी! अनन्त जीवन प्रकट होते हैं।

मदन—जैसे संगीत की थोड़ी-सी तान में अनन्त कहानी गुञ्जार कर उठती है। अच्छा आगे कह।

चित्रागंदा—मै इस तरह सोच रही थी कि अंग-अंग में दक्षिण पवन ने नींद के हिलोरे डालना शुरू किया। सप्तपर्ण शाखा पर लिखी हुई मालती लता ने मेरे गोरे-गोरे अंग पर दूर से ही पुष्पो की वर्षा कर जहाँ-तहाँ चुम्बन लेना शुरू किया। पुष्पो ने मेरे केश-कलाप, चरणतल और स्तनतल पर अपनी चिरविश्राम की सेजें बिछा ली।

इस तरह सुध-बुध-हीन दशा में कुछ समय व्यतीत हो गया। इसी समय भरी निद्रा में न जाने किस समय अनुभव होने लगा कि किसी की मुग्ध दृष्टि दस उंगुलियों की भाति मेरे निद्रालस शरीर को रभसलालसा से छू रही है। मैं चौंक कर जग पड़ी।

देखा कि सन्यासी टकटकी लगाए हुए, मेरे पैरों की ओर प्रति मूर्ति के समान खड़ा हुआ है।—पूर्वाचल से चल कर द्वादशी का चाँद धीरे-धीरे आया और उसने मेरे प्रफुल्ल नवीन और

स्वच्छ नग्न सौन्दर्य पर अपनी सारी शीतल चाँदनी को छिटका दिया। तरुवृन्द पुष्पगन्ध से पूर्ण थे। झिल्लीरव से निद्रा तन्द्रा-मग्न थी। स्वच्छ सरोवर में चन्द्रकिरण की अकंपित कान्ति पड़ रही थी। पवन सो रहा था। माथे पर चाँदनी का प्रकाश छाया हुआ होने पर भी अपने पत्र-पल्लवों के भीतर के घनान्धकार का भार धारण कर अटवी स्तब्ध हो रही थी। वह दण्डधारी ब्रह्मचारी दीर्घकाय वनस्पति के समान चित्र लिखा सा होकर खड़ा हुआ था, मानो मेरी छाया का सहचर ही हो। पहले नींद के उड़ जाने पर मैंने चारों ओर ताका तो भास हुआ कि कहीं किसी प्रदीप के समय मेरा जीवन छूट गया है और निर्जन-धोड़े से प्रकाशवाली वैतरणी के तीर पर किसी एक अनुपम निद्रा-लोक में स्वप्नजन्म का लाभ हुआ है। मैं उठकर खड़ी हुई। ढीले वसन के समान, मिथ्या शरमसंकोच पदतल में खिसक पड़े। सुनाई दिया 'प्रिये प्रियतमे!' गंभीर आव्हान से जन्म-जन्म सरुडो—जन्म मेरे एक शरीर में जागृत हो उठे। मैंने कहा "लो, लो, जो कुछ है, सब लो, मेरे जीवनवल्लभ" और अपनी भुजवल्लरी को आगे फैला दिया।—चंद्रमा जंगल में छिप गया। अंधेरे से जमीन छा गई। असहनीय आनन्द में स्वर्ग-मर्त्य, देश-काल, सुख-दुख, जीवन-मरण सब, अचेत हो पड़े।······प्रभात की प्रथम किरण और विहंग के प्रथम संगीत के साथ, बाएँ हाथ पर जोर देकर धीरे-धीरे मैं शय्या पर उठ बैठी। देखा कि वीर-वर सुख की नींद सो रहे हैं। अधरोंपर प्रातःकाल की चंद्रकला के ऐसी शान्त स्मित की रेखायें लहरा रही हैं। मानो रजनी के आनंद का शीर्ण अवशेष सुहा रहा है। समुन्नत ललाट पर अरुण की आभा गिर रही है, मानों मर्त्यलोक में नवीन उदयाचल पर नवीन प्रताप का सूर्योदय होनेवाला है। निश्वास डाल मैं सेज को

छोड़कर उठी। मालती के लताजाल को बड़ी सावधानी से झुकाया और सोते हुए मुख पर पड़ती हुई किरणों की आड़ में परदा कर दिया।—देखा तो चारों ओर वही पुर्व से परचित प्राचीन पृथ्वी देख पड़ी। मुझे अपना भान हुआ। अपनी छाया से भयभीत होकर जैसे हरिणी दौड़ती है वैसे ही मैं नवीन प्रभात के बरसाये हुए शैफाली कुसुमों से छाई हुई बनस्थली पर होकर एकदम दौड़ी। निर्जन लतामण्डप के नीचे जा बैठी। दोनों हाथों से मुंह ढाँक कर रोना चाहा, परन्तु न रो सकी।

मदन—हाय, मानवनन्दिनी! स्वर्गीय सुख के दिन का अपने हाथो से रस निकाल कर पृथ्वी की एक रात को भगी। बड़े यत्न से तेरे अधर के पास वह रस की प्याली ला रक्खी। बन्दनवन की सौरभ से सुरभित हुई और राति से चुंबन पाई हुई शचि के मधुर प्रसाद-सुधा का तुझे पान कराया। फिर यह रोना कैसा।

चित्रांगदा—किसे पान कराया, देव! किसकी प्यास बुझाई। वे वे चुंबन, वे वे प्रेम-प्रसंग अब भी मेरे अंग अंग मे व्याप्त होकर वीणा के झंकार के समान प्रकंपन उत्पन्न कर रहे हैं। वे तो मेरे नही हैं! बहुत समय के साधन के प्रभाव से केवल घड़ीभर का प्रथम मिलन हुआ। किसने मुझे धोखा दिया? किसने मेरे संयोग में विच्छेद कर दिया। पूर्ण रीति से खिल चुके हुए पुष्प की भांति यह मेरा मायाकृत लावण्य उस चिर दुर्लभ प्रथम संयोग की सुख-स्मृति के साथ-ही-साथ खिर पड़ेगा। अन्तर की दरिद्र यह नारी देह की भी दरिद्र हो जायगी। मकरध्वज, आपने किसी महा राक्षसी की छाया के समान मेरी अंगसहचरी कर डाली। क्या अन्याय है? या क्या लूट खसोट है? चिर काल से तृष्णा से आतुर हुए लोलुप ओठों के पास आये हुए चुंबन रस का वही पान कर गई। वह प्रेमभरी निगाह कैसी है कि जहाँ पर

गिरती है, जिस अंगपर गिरती है वहीं वासना की रंगीन रेखाओं के निशान बना देती है। रातभर तप करनेवाले कुमारी के हृदय ध्यानपर वह दृष्टि सूरज की किरण की भांति गिरती है, परन्तु वह राक्षसी भुलावा देकर उस प्रेम भीनी दृष्टि को भी अपनाये लेती है।

मदन—कल की रात तेरी व्यर्थ ही गई? आशा की नाव किनारे पहुँचते पहुँचते पीछे लौट गई। क्या तरंग मात्र आघात से ही पीछे लौट गई।

चित्राङ्गदा—कल रात को मेरे चित्त में कोई चिन्ता न थी। स्वर्ग सुख इतना पास आ गया था कि मैं तन-मन की सुध भूल गई। इस बात का तो मुझे भान भी न रहा कि स्वर्ग सुख पा लिया है या नहीं। आज प्रातःकाल उठते हीं जान पड़ने लगा कि निराशा और धिक्कार के मारे फटकर हृदय के भीतर-ही-भीतर टुकड़े हुए जाते हैं। अब रात की एक एक बात याद आ रही है बिजली पड़ने के ऐसी वेदना पैदा करती हुई चेतना, क्या भीतर और क्या बाहर, सौत का रूप धारण कर रही है। मैं इसे भूल नहीं सकती हूँ। मेरी यह काया भी सौत सी हो गई इसी सौत को अपने हाथों से बड़े जतन के साथ सजा-सजाकर अपने मनोरथ के तीर्थ वासरशयन पर प्रति दिन भेजना पड़ेगा निरंतर साथ रहकर क्षण क्षण में होते हुए इसके आदर-सम्मान को अपनी आंखों से देखना पड़ेगा। ओफ! देह के सुहाग अन्तःकरण सिहानल में जलता रहेगा! ऐसा शाप मनुष्यलोक किसे मिला होगा? हे अनंग, अपने वर को लौटा लो।

मदन—यदि लौटा लूं—छलके आवरण दूर हो जाने से पाले से मारी हुई पत्र पुष्पहीन हेमन्त की लता की ऐसी जायगी, कल प्रातःकाल में ही पार्थ के सामने तू मारे लाज

कौन-सा मुंह लेकर जायगी ? आनन्द की पहली घूंट का स्वाद चखा और मुख से सुधापात्र को हटाकर उसको जमीन पर डाल कर टुकड़े-टुकड़े कर डालने से अर्जुन कैसा चौंकेगा, कैसा आघात पावेगी और कैसा क्रोध भरी दृष्टि से तेरी ओर देखेगा !

चित्राङ्गदा—ऐसा होना भी अच्छा है देव ? इस कपट-वेश-धारिणी की अपेक्षा मैं स्वाभाविक वेशवाली सौगुनी अच्छी हूँ। मैं अपने असली वेश में प्रकट होऊंगी।

यदि मैं उन्हे पसन्द न पड़ू, यदि वे मुझे छोड़कर चले जायँ, और यदि मैं हृदय फटकर मर भी जाऊं तो भी मैं मैं ही रहूँगी। इंद्र सखा ? ऐसा होना ही अच्छा है।

वसन्त—अच्छा मेरी बात सुन। सब पुष्पों के खिले बाद ही फल लगते हैं। यथा समय तेरे तापक्लिष्ट लावराय का पत्तियाँ स्वयं झड़ जायंगी। तब तू अपने आप आत्मगौरव में प्रगट हो जायगी। उस समय तुझे देखकर अर्जुन समझेगा कि मुझे नया सौभाग्य प्राप्त हुआ है। अभी तो जा लौट जा, वत्से यौवन का उत्सव मना।

अर्जुन और चित्राङ्गदा

चित्राङ्गदा—क्या देख रहे हो वीर ?

अर्जुन—पुष्पवृन्त को लेकर कोमल उंगुलियां माला गूंथ रही हैं, मानों निपुणता और सुघराई दोनों बहनें अनन्त उल्लास में आकर उंगुलियों के अग्रभाग पर चपल नृत्य कर रही हैं सो देख रहा हूँ। देखता हूँ और सोचता हूँ।

चित्रांगदा—क्या सोचते हो ?

अर्जुन—प्रिये, मैं सोच रहा हूँ कि इन सुन्दर हाथों से पकड़ कर स्पर्श के रस से तू मेरे इस प्रवास के जंगली दिनों को सरस कर देगी, उनसे एक ऐसी ही मनोहर माला गुंथेगी और मैं उस आनन्द के हार को मस्तक पर धारण कर घर लौट जाऊंगा।

चित्रांगदा—इस प्रेम के भी क्या कोई घर है?

अर्जुन—घर नहीं है?

चित्रांगदा—नहीं। घर ले जाओगे? घर की तो बात ही न करो। घर तो चिरस्थायी वस्तु के लिये होता है। जो कुछ नित्य हो उसे घर ले जाना। जंगली फूल जब सूख जायगा तब उसे घर मे न जाने किस ठौर पत्थर पर फेंक दोगे। उसकी अपेक्षा तो यही अच्छा है कि सायङ्काल के समय मेरी कुसुमलीला समाप्त होने पर कानन के सौ-सौ सुखों की समाप्ति के साथ ही साथ मैं अरण्य के अन्तःपुर में समाप्त हो जाऊं, जहाँ पर रोज-रोज अंकुर नष्ट होते हैं, पत्तियाँ झड़ती हैं और क्षणिक जीवन क्षण-क्षण ये प्रकट होते और लय पाते हैं। इससे किसी के मन मे कोई खेद न रहेगा।

अर्जुन—बस यही है हमारा प्रेम?

चित्रांगदा—हाँ, यही है। इससे विशेष कुछ नहीं है। इसमें दुःख क्या है वीरवर? आलस्य के समय मे जो कुछ अच्छा मालूम हो, उसका उपभोग उतने ही समय में करके उसे छोड़ देना चाहिये। सुख को विदा करके मार्ग रोक दिये जायं तो क्षणभर में सुख दुःख में परिवर्तित हो जाता है। जो कुछ जितने समय के लिये है उसे उतने ही समय तक अङ्गीकार करो। कामना के उदयकाल मे जो कुछ प्राप्त हुआ हो उससे अधिक की आशा अवसान काल में न करो।

दिन बीत गया। मैं थक गई हूँ बीरवर! मुझे अपनी बाहु-ओंका सहारा दो। मिथ्या असन्तोष को दूर कर हमारे अधरों में सुखसम्मिलन की सन्धि होने दो। प्रणय में सदा की हार अमृतसनी होती है, आओ हम एक दूसरे को बहुपाश में जकड़ कर कैद कर लें।

अर्जुन—प्रियतमे, सुन। बन के पास के गांवों मे शङ्ख और झालर घण्टा बज उठे, जान पड़ता है कि आरती हो रही है।

मदन और वसन्त

मदन—सखे, मैं पंचबाण हूँ। मेरे एक बाण में हंसी है, एक में रोना है, एक में आशा है, एक में भय है और एक में संयोग-वियोग, आशा-निराशा, सुख-दुःख और उल्लास-भय एक साथ जड़े हुए हैं।

वसन्त—मित्र अब तेरी-मेरी न निभेगी। मैं बहुत थक गया हूँ। मुझे जाने दे। और कितने समय तक मैं तेरी लगाई हुई आग को पंखे की हवा झल-झल कर दिनरात सुलगाता रहूँ। मारे नींद के मेरी आंखें बन्द होती जाती हैं। पंखा गिर पड़ता है और सुलगाई हुई आग कज्जलाये जाती है। मैं चौंक उठता हूँ और फिर फूकें मार मार कर आग को चेताता हूँ। मित्र, अनङ्ग, अब बस कर, अपने रणरंग को पूरा कर। मुझे विश्राम लेने दे

मदन—हाँ जानता हूँ तू तो सदा का चंचल है। सदा का तू बालक ही है। बिना किसी प्रकार के बन्धन के भूलोक और द्युलोक में खेल करता फिरता है। जिसे बड़े यत्न से बहुत समय

में सुंदर कर पाता है उसी को धूल में मिलाकर तुरंत चल देता है, पीछा फिर कर देखता भी नहीं। तेरी पांवों की हवा के थोड़े से वेग से ही आनन्द के चंचल दिन न जाने कहाँ के कहाँ हूहा करते हुए फौरन उड़ जाते हैं। अब बहुत दिन बाकी नहीं हैं। आनन्द ही आनन्द की बेखबरी में वर्षभर पूरा होता आया है। जल्दी न मचा।

जङ्गल में अर्जुन

अर्जुन—आज प्रातःकाल ही नींद से जगा तो ऐसा अनमोल रत्न हाथ लगा कि मानो स्वप्न में कोई निधि मिली हो। इस रत्न को रखने के लिये जमींन की मिट्टी पर कहीं स्थान नहीं है, कोई मुकुट ऐसा नहीं जिसमे जड़कर यह रत्न रक्खा जा सके और न कोई ऐसा सूत ही है कि जिसमें इस रत्न को पिरो दूं। मैं ऐसा अधम पुरुष नहीं हूँ कि इस रत्न को यों ही फेंक जाऊं इसे पाकर बहुत समय से क्षत्रिय कर्त्तव्य-हीन हो रहे हैं, दिनरात के बन्धन मे पड़ गये हैं।

(चित्राङ्गदा का प्रवेश)

चित्रांगदा—क्या सोच रहे हो महाभाग ?

अर्जुन—शिकार की बात सोच रहा हूँ। वह देख गिरिपर खूब वर्षा हो रही है, बनपर घनघोर घटा छाई हुई है। नदी नाले उमड़े हुए हैं। कलकल नाद तटों की तर्जना करते हुए सीमा को पार कर रहे हैं। याद आ रहा है कि ऐसे बरसाती मौसिम में पांचों भाई मिलकर चित्रकारण्य में शिकार खेलने को जाया करते थे। धूप नाम को भी न होती थी। काली घटाओं की

अंधेरी छाई रहती थी। हम दिनभर ऐसे समय को बड़े उल्लास में विताया करते थे। मेघ की मन्द ध्वनि से हमारे हृदय नाच उठते थे। वृष्टि की झिरमिराहट और निर्झरों की झरमराहट के कारण मृगगण सावधानी से रक्खे हुए हमारे पदों की आहट को नहीं सुन पाते थे। चीते और बाघ पङ्किल मार्गपर अपने पंजों के निशान छोड़कर हमें अपने स्थान का पता दे जाते थे। शिकार हो चुकने पर हम पांचों भाई तैरने की शर्त कर वर्षा से भरी हुई नदी को तैरकर पार हो जाते थे। इस समय भी वैसा ही करने की मन मे ठानी है।

चित्राङ्गदा—हे शिकारी! जिस शिकार का खेलना शुरू किया है पहले उसे तो पूरी होने दो—तब क्या आपको यह विश्वास हो गया है कि यह सुवर्णमयी मायामृगी आपके हाथ में आ गई? नहीं, ऐसा कभी न समझो, ऐसी बात हो ही नहीं सकती। यह जंगली हरिणी स्वयं अपने को अपने हाथ में नहीं रख सकती। स्वप्न की भांति, न जाने कब यह किधर को किधर चौंक कर चौकड़ी भर जा सकती है। क्षण भर के खेल को सहन कर सकती है, चिरकाल के बन्धन को नहीं उठा सकती। देखो, आँख उठाकर इस मेघ और हवा की ओर देखो। घनश्याम बरस, बरस कर हजार हजार तीर हवा की पीठ पर फेंक रहा है, तो भी वह हवा हरिणी अक्षत है, अजेय है और छलांगें भरती हुई उड़ती ही चली जा रही है।—नाथ! इस बरसाती मौसिम मे आपकी और मेरी भी यही मृगया की क्रीड़ा है। प्राणपण से चञ्चला का शिकार कीजिए, कसर न रह जाय। जितने अस्त्रशस्त्र आपके पास हों, जितने शर आपके तूण मे हों, सबको एक साथ चलाइए। अन्धकार हो या प्रकाश हो, मूसलधार वर्षा हो या चमचमाहट करती हुई बिजली हो, कुछ

भी हो, मेघाच्छन्न जगत् में यह मायामृगी तो छूटकर स्वच्छन्दता से बे-रोकटोक दौड़ती ही रहेगी।

मदन और चित्राङ्गदा

चित्राङ्गदा—हे मन्मथ, मेरे अंग अंग में तुमने न जाने क्या भर दिया, जो तीव्र मद्य के समान मेरे रक्त मे मिलकर मुझे मदोन्मत्त किए देता है। खुले बाल और उच्छ्वसित वेश से मैं मृगी की नाईं अपनी गति के गर्व से उन्मत्त होकर पृथ्वी पर चौकड़ियां लगा रही हूँ। मेरे धनुर्धर घनश्याम शिकारी को जंगल-जंगल और मार्ग-मार्ग पर भटका-भटका कर थका रही हूँ और उसे निराश करती हुई अपने निर्दयी विजय के सुख से कुतूहल की हँसी हँस रही हूँ। इस खेल के भंग हो जाने के भय से काँप रही हूँ। एक घड़ी भर भी स्थिर हो जाऊं तो रोने के मारे हृदय के टुकड़ेटुकड़े होकर गिर पड़ें।

मदन—रह रह! इस रङ्ग का भंग न कर। यह रंग तो मैंने जमाया है। बाण चलने दे, प्राणों को बिंधने दे। आज नवीन वर्षा के समय जंगल में मेरा शिकार है। दे, दे, उसे थका दे, पदानत होने दे। दृढ़ पाश में बांध, दया न खा, हंसते-हंसते अंग-अंग को जर्जर कर दे। शिकार में दया कैसी! अमृत मिले हुए जहर से बुझे हुए वचन-बाणों का हृदय पर वार कर।

अर्जुन और चित्राङ्गदा

अर्जुन—प्यारी, क्या तेरे कोई मकान नहीं है? जिसमें तेरे

प्यारे परिजन वियोग के मारे कल्पान्त कर रहे हों ! जिस आनन्द भवन को नित्यस्नेह-सेवा से तूने सुधामय कर रक्खा था, वहाँ का दीपक बुझ गया हो ! कोई ऐसा मकान नहीं है जहाँ पर तेरीबचपन की स्मृतियाँ रोती हुई पहुँचें !

चित्राङ्गदा—यह सवाल क्यों ? क्या आनन्द लूट चुके ? आप जो कुछ देख रहे हैं मैं वही हूँ। इससे अधिक मेरा कोई परिचय नहीं है। प्रातःकाल के समय किंशुक के पत्र की नोंक पर जो हिमकी बूंद लटकती रहती है उसका भी क्या कोई नामधाम होता है। उससे भी परिचय का प्रश्न किया जा सकता है ? आप जिसे प्यार करते हो वह भी ऐसा ही एक नाम-धाम-हीन ओस का मोती है।

अर्जुन—क्या पृथ्वी पर उसके लिये कोई बन्धन नहीं है ? क्या वह स्वर्ग से ढलक पड़ी हुई एक बूंद मात्र है।

चित्राङ्गदा—हाँ, ऐसा ही है। जंगल के फूल को क्षणभर के लिये वह अपनी उज्ज्वलता समर्पण कर रही है।

अर्जुन—तभी तो मेरे प्राणों मे हो रहा है कि यह गई, यह चली, न मुझे तृप्ति होती है और न शान्ति ही मिलती है। ओ मेरे दुर्लभ धन, मेरे बिलकुल पास आ जा। अन्यान्य मनुष्यों की भाँति, नाम धाम, घर-बार जाति-गोत्र, देह, मन, बचन आदि के हज़ार-हज़ार बन्धनों मे बंध जा। ऐसी तरकीब कर कि तेरे अंग-अंग से लिपट कर मै निर्भयता-पूर्वक रह सकूं। क्या तेरा कोई नाम नहीं है ? यदि नहीं तो, भला मैं कौन से प्रेम-मन्त्र से अपने हृदय-मन्दिर में तेरे नाम की माला जपूंगा ? तेरा कोई गोत्र नहीं है ? यदि नहीं तो फिर कौन से मृणाल से इस पद्मिनी को बाँध रक्खूंगा ?

चित्राङ्गदा—नहीं-नहीं, कुछ नहीं है। जिसको बाँध रखना चाहते हो वह बन्धन को जानती ही नहीं है। वह सुनहली बदली है, फूलों की खुशबू है, लहरों की गति है।

अर्जुन—जो ऐसे को प्यार करे, वह तो निश्चय अभागा है! प्रेम के हाथ में आकाश-कुसुम न दो! प्रियतमे, उसे कुछ ऐसा धन दो कि जिसे सुख-दुख के भले-बुरे दिनों में हृदय से चाँप कर रक्खा जा सके।

चित्राङ्गदा—अभी तो पूरा एक वर्ष भी न हुआ, क्या इतने में ही उपराम हो गया? हाय हाय! अब मेरी समझ में आया कि पुष्पों की परमायु जो थोड़ी सी होती है यह उनपर देवता का बड़ा भारी आशीर्वाद है। यदि बीते हुए वसन्त के खिले हुए कुसुमो के हाथ ही मेरे इस शरीर का पतन हो जाता तो आदर से इसका अन्त होता। पार्थ! जितने कुछ दिन इस शरीर में सौन्दर्य छटा है उतने ही दिनों से उसके आनन्द मधु का अच्छी तरह पान कर लो—मधु को निःशेष कर दो, कुतुहलपूर्वक अपनी आशा को पूरी कर लो। फिर स्मृति के भुलावे में पड़ बार-बार लौट-लौट कर न आना, अपनी दशा उस भौंरे की सी न बनाना जो कल सायंकाल के समय छिन्नकुसुम माधवीलता के आस-पास पराग रस से अपनी प्यास को बुझाने के लिये मंडराता फिरता था।

वनवासी और अर्जुन

वनवासी—हाय, हाय। अब कौन रक्षा करेगा?

अर्जुन—क्यों, क्या हुआ?

वनवासी—मूसलधार वर्षा के समय पार्वतीय जलौघ जिस वेग से आता है उसी वेग से, गाँवों का विनाश करने के लिए डाकुओ का दल का दल उत्तरपर्वत पर से निकल कर बढ़ा चला आ रहा है।

अर्जुन—इस राज्य में क्या कोई रक्षक नहीं है ?

वनवासी—दुष्टों का दमन करने वाली राजकुमारी चित्राङ्गदा थीं। उनके आतङ्क से राज्यभर मे यम के भय के सिवा और कोई भय नहीं था। परन्तु सुना है कि वे अज्ञातभ्रमण व्रत को धारण कर तीर्थ-यात्रा करने को गई हुई हैं।

अर्जुन—क्या इस राज्य की रक्षक एक स्त्री है।

वनवासी—हाँ, एक ही देह से वे अनुरक्त प्रजा की मा-बाप दोनों है। स्वेन में राजमाता और बलवीर्य मे महाराज हैं।

(चित्राङ्गदा का प्रवेश)

चित्राङ्गदा—स्वामी, क्या सोच रहे हो ?

अर्जुन—राजकुमारी चित्राङ्गदा कैसी है, इस बात पर विचार कर रहा हूँ। सैकड़ों मनुष्यों के मुख से उसकी नई-नई कहानियाँ और नये-नये वृत्तान्त सुनता हूँ। इसीसे विचार उठ रहा है कि वह कैसी होगी !

चित्राङ्गदा—वह तो कुरूप और कुत्सित है। (हाथ के इशारे से बताती हुई) ऐसी बाकी भौंहे उसकी नहीं है और नहीं हैं उसकी ऐसी जादूभरी काली कीकियाँ। उसके बलवान और कठिन भुज लक्ष्यवेध करना जानते हैं, परन्तु इस तरह कोमल नागपाश मे वीर शरीर को जकड़ नहीं सकते।

अर्जुन—परन्तु मैंने तो सुना है कि वह स्नेहभाव में नारी है और बल वीर्य में पुरुष है !

चित्राङ्गदा—हरे हरे ! यही तो उसका दुर्भाग्य है ? स्त्री यदि स्त्री हो, केवल वसुन्धरा की शोभा हो, कान्तिमयी हो, प्रेम भरी हो, अनेक प्रकार से मिल कर सौ-सौ विभ्रम करती हो, रोते-हंसते उठते-बैठते आड़ी-टेढ़ी होते भाँति-भाँति की भाव-भंगी दिखलाती हो, और स्नेह-सेवा के सुहाग से सदा भरीपुरी होकर विलसती हो, तो उसका जन्म सफल है, कीर्ति और बलवीर्य की शिक्षा से उसको क्या आनन्द मिल सकता है ? यदि आप उसे कल पूर्णा-नदी के तट पर के उस जंगल के शिवालय में देख पाते तो हंसकर चले जाते !—हाय हाय । आज आपको स्त्री के सौन्दर्य पर ऐसी अरुचि हो गई कि आप स्त्री मे पौरुष का मज्जा खोजने को तत्पर हो रहे हो ।

आओ नाथ देखो शैलगुहा के पास वह गहरी छाया देख पड़ती है । वहीं पर मैंने कोमल कोमल हरी-पीली पत्तियों को चुन और उन्हें झरने के जल से शीतल कर मधुर-मृदु-शय्या बनाई है—सुनो, तरुपल्लवों की गाढ़ छाया में बैठे हुए कबूतर कलान्त कण्ठ से 'गटरगूं गटरगूं' करते हुए कह रहे हैं कि समय जा रहा है, छाया के नीचे होकर ही कलकल करती हुए नदी बही जा रही है । शिला-खण्ड के एक-एक स्तर की, सरस स्निग्ध जलार्द्र और श्याम सैवार अपने कोमल अधर से नयनों का चुम्बन कर रही है । आओ नाथ, उस विरल विश्राम के स्थान पर चलो ।

अर्जुन—आज नहीं प्यारी ।

चित्रागदा—क्यों नाथ ?

अर्जुन—सुना है कि डाकुओं के झुण्ड के झुण्ड गाँवों का विध्वंस करने को चले आ रहे हैं, मैं तो गरीबों की रक्षा करूंगा ।

चित्राङ्गदा—प्रभो, आप इसकी कोई चिन्ता न कीजिए। तीर्थयात्रा को जाने के पहले ही राजकुमारी चित्राङ्गदा सब ओर दिशा दिशा में बड़े होशियार सिपाहियों के पहरे बिठला गई है और भय के जितने मार्ग थे उन्हें बुद्धिमानी के साथ बन्द कर गई है।

अर्जुन—फिर भी प्यारी, मुझे जाने की आज्ञा दे। मैं अपने कर्तव्य का पालन कर अभी थोड़ी देर में लौट आता हूँ। बहुत दिनों से ये क्षत्रिय बाहु अलसा रहे हैं, इन दोनों क्षीण-कीर्ति भुजाओं को फिर नये गौरव से भर लाता हूँ। तब ये तेरे मस्तक के नीचे रखने योग्य उपधान (सिराहना) हो जायंगे।

चित्राङ्गदा—यदि न जाने दूँ, यदि बाँध रक्खूं तो क्या बाहु-बन्धन को तोड़ कर चले जाओगे? अच्छा जाना ही हो तो जाओ, परन्तु याद रखना कि एक बार बेल टूटी कि टूटी, फिर जुड़ती नहीं। यदि तृप्त हो गए तो जाओ मैं मना नहीं करती; किन्तु तृप्त नहीं हुए हो तो स्मरण कर लो कि सुखलक्ष्मी चंचल है वह किसी के लिये बैठी नहीं रहती। वह किसी की सेवा करनेवाली दासी नहीं है। जितने दिन वह प्रसन्न रहती है। उतने दिन स्त्री-पुरुषों बड़ी सावधानी के साथ उसे अपनी आँखों के सामने ही रखते हैं और वह उन स्त्री-पुरुषों को रातदिन अपनी सेवा में खड़े के खड़े रखती है। जिस सुख की कली को छोड़कर आप जाओगे, सायंकाल को कर्मक्षेत्र से लौटने पर आपको जान पड़ेगा कि उस कली की सारी पंखड़ियाँ धूल में झड़ पड़ी हैं। उस समय आपको अपना सारा कर्म व्यर्थ जान पड़ने लगेगा और जीवनभर के लिये अतृप्ति का एक पछतावा खड़ा हो जायगा! आओ नाथ, बैठो। क्यों आज ऐसे अन्य-

मनस्क हो रहे हो ? किसकी बात सोच रहे हो ? चित्राङ्गदा की ? आज उसका ऐसा भाग्य क्यों है ?

अर्जुन—सोच रहा हूँ कि वीराङ्गना ने ऐसा कठिन व्रत क्यों धारण किया ? उसे कमी क्या है ?

चित्राङ्गदा—उसे कमी है ? था ही क्या अभागिनि के पास ? वीर्य ने गगनभेदी बड़े-बड़े सुदुर्गम किले चारों ओर बना कर उसके स्त्री-हृदय को बन्द कर रक्खा था। रमणी स्वाभाविक रीति से अन्तःपुर में रहनेवाली होती है। वह अपने स्वरूप को हृदय में छुपाए रहती है। यदि हृदय में छुपे हुए स्वरूप का प्रतिबिम्ब शरीर की शोभावाली कान्ति मे न झलके तो उसे कौन देख सकता है ?—उसे क्या कमी है ! अरुण के लावण्य की रेखा से सदा के लिये वंचित हो जाने पर जैसे उषा निष्प्रभ हो न पड़े, वैसे ही वीर्य के शैल-शिखर पर सैकड़ों अंधकार में छुपकर बैठी रहनेवाली छबिहीन वह अकेली नारी है। उसे कुछ कमी नहीं है ? जाने भी दो उनकी बातों को ! उसका इतिहास ऐसा नहीं है कि पुरुष को श्रुति-मधुर जान पड़े।

अर्जुन—कहे जा, कहे जा प्रिये। मेरी लालसा उसकी बातें सुनने के लिये बराबर बढ़ती ही जा रही है। उसके हृदय को मैं अपने हृदय में अनुभव कर रहा हूँ। मुझे जान पड़ने लगा है कि मैं कोई प्रवासी हूँ। और मध्यरात में किसी परम सुंदर प्रदेश मे प्रवेश कर रहा हूँ। नदी, पहाड़ और वनभूमि सब सो रहे हैं। सफेद सफेद अटारियों वाली विशाल नगरी की कुछ-कुछ झलक सी देख पड़ती है। सागर की गर्जना-सी सुन पड़ती है। प्रवासी बड़ी उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करता है कि कब प्रभात हो और कब नगर का सौन्दर्य देखूं, वैसा ही मेरा हृदय उस

(चित्राङ्गदा) के लिए उत्सुक हो रहा है। कहे जा, कहे जा, मैं उसका वृत्तान्त और सुनूँ।

चित्रांगदा—अब और क्या सुनोगे !

अर्जुन—प्रिये, मैं उसे अश्वारोही के रूप में देख पाता हूँ। बायें हाथ में बिना किसी प्रकार के आयास के, लगाम थाम रक्खी है और दाहिने हाथ में धनुषबाण लिए है, मानो विजय लक्ष्मी सुहा रही है। आर्त प्रजाजन को वह वर और अभय-दान दे रही है। गरीबों के घर जाने में राजा महाराज समझते है कि हमारा नाम मर गया, परंतु माता के रूप में वहीं पर जाकर वह दयामृत की वर्षा करती है। सिंहानी के समान वह अपने बालकों की रक्षा करती है कि कोई शत्रु मारे भय के पास भी नहीं फटकने पाता। दयामयी जगद्धात्री के समान निर्भय, निःसंकोच और सुप्रसन्न वदन से वीर्यसिंह पर सवार होकर वह घूमती फिरती है। रमणी के दोनों कमनीय भुजाओं के उस विशाल बल-विक्रम की संकोच रहित स्वाधीनता के सामने रणझण करते हुए कंकण-किङ्कणी कोई चीज नहीं है—अयि वरारोहे ! बहुत दिनों से कर्म-हीन हुए ये मेरे प्राण शिशिर की दीर्घ निद्रा से उठे हुए, भुजंग के समान अशान्त होकर उछल रहे हैं। आ, हम दोनों साथ-साथ सवार होकर चंचल घोड़ों को बड़े वेग से दौड़ावें। दो प्रकाशमान ग्रह बड़े वेग से जाते हों इस तरह इस कुन्द वातावरण में-से निकल चलें। इस तीव्र पुष्पगन्ध की मदिरा से नींद की घोर घुमेरी पाये हुए जंगल के अंध-गर्भ से बाहर हो जायं।

चित्राङ्गदा—हे कौन्तेय ! यदि मैं उस लालित्य को इस कोमल भीरूपन की ओर स्पर्श से भी कुम्हलाने वाले शिरीष-पुष्प से भी सुकुमार इस रूप को पराये वस्त्रों के समान छिन्न

भिन्न कर घृणा के साथ पैरों में फेंक दूँ तो क्या आप इस हानि को सहन कर सकोगे! कामिनी की कपट कला और जादू भरे मायाजाल को दूर कर यदि लचीली लता की तरह संकोच से न लच जाऊं, और पर्वत के तेजस्वी तरुण तरु के समान आनंद-वायु से लहराती हुई सीधी और सन्उन्नत होकर खड़ी हो ज तो क्या पुरुष की निगाह में अच्छी जचूंगी! रहने भी उसकी अपेक्षा यही अच्छा है! यह यौवन मेरा दो दिन कीमती धन है। इसे सजा कर मैं बड़ी सावधानी से रक्खूंगी आपके आने की बाट देखती रहूँगी। समय पर जब आवेंगे तब लबालब भरे हुए देहपात्र से आपको सुधाप कराऊंगी। सुखस्वाद करते-करते आपको थकावट जान पड़े आनन्द से काम करने को चले जाना। जब मैं पुरानी हो जा तब मैं, आप कहेंगे वहीं पर कहीं-न-कहीं पास ही प रहूँगी।—पार्थ! रात की सहचरी यदि दिन की कर्मसहच बने, और दाहिने हाथ जैसे बांये हाथ का साथ देता है वैसे पुरुष का साथ स्त्री दे, तो क्या वह वीर के प्राणों को सुखदा जान पड़ेगी?

अर्जुन—मैं तेरे रहस्य को कुछ भी नहीं समझ पाता हूँ इतने दिन से साथ हूँ तो भी कुछ पता नहीं चलता। ऐसा भा होता है कि सदा साथ रह कर तू मुझे धोखे में रख रही है देवता के समान प्रतिमा के भीतर रहकर तू मुझे अनमोल चुंबन रत्न और आलिङ्गन सुधा का दान कर रही है। तू स्वयं कुछ लेती नहीं है। लेना छोड़कर कुछ चाहती तक नहीं है। यह अंगहीन और भाषाहीन प्रेम अंतःकरण में परिताप पैदा किये देता है तेजस्विनी! बातचीत के बीच में तेरा परिचय मिल रहा है। उसके सामने यह सौन्दर्य-राशि मुझे केवल मिट्टी की मूर्ति जान

पड़ती है, निपुण कारिगर की बनाई एक यवनिका मालूम होती है। बीच-बीच और एक खयाल उठता है कि रूप तुझे धारण करने में असमर्थ है। वह ढलमल करता हुआ काँप रहा है। नित्य प्रगट होनेवाली हँसी में जान पड़ता है आँसू भरे हुए हैं और वे बीच-बीच में छलछल करते उमड़ पड़ते हैं कि मुहूर्त भर में परदा फट पड़ेगा।—साधक के सामने भ्रान्ति पहले मनोहर माया की काया धर आती है, इसके बाद वेशभूषा से रहित सीधा-सादा सत्य भीतर और बाहर प्रकाश फैलाता हुआ देख पड़ता है। तेरा वही सत्य स्वरूप कहाँ है, मुझे उसका दान कर और मेरा जो कुछ सत्य स्वरूप हो उसे ग्रहण कर। बस ऐसा मिलन ही सदा सर्वदा का मिलन है। उसमें किसी तरह का उपराम नहीं होता—किसी प्रकार को थकावट नहीं होती।—ये आँसू, क्यों प्यारी ? बाहु में मुंह को छुपाकर यह व्याकुलता कैसी ? क्या मैंने कुछ चोट पहुँचाई प्रिये ! अच्छा इस बात को ही जाने दो। यह मनोहर रूप ही मेरे पुण्यों का फल है। यही मेरा सौभाग्य है कि यौवन-यमुना की परली पार से बसंत समीर के साथ आता हुआ संगीत बीच-बीच में सुनाई। पड़ता है। यह वेदना, मेरे सुख का अधिक सुख और आशा की अधिक आशा है। यह वेदना हृदय से भी बहुत बड़ी है, इसीसे ऐसा जान पड़ता है कि यह हृदय की व्यथा है।

मदन, वसन्त और चित्राङ्गदा

मदन—आज आखिरी रात है।

वसन्त—(चित्राङ्गदा से) आज की रात पूरी होते ही तेरे अंग की शोभा वसन्त के अक्षय भाण्डार में लौट जायगी। तेरा अधर रांग पार्थ की चुम्बनस्मृति को भूलकर लता के दो नवीन किसलयों में प्रकट होगा। तेरे अंग का रंग सैकड़ों मनोहर फूलों

में नयारूप धारण करेगा और नवीन जागृति में पूर्व जन्म की कथा को स्वप्न के समान छोड़ देगा।

चित्राङ्गदा—हे अनङ्ग! हे वसन्त! तब क्या आज रात को ही मेरे रूप की को इतिश्री है! तब तो उसे आखिरी रात के अन्त दीपक की अंतिम लौ की भांति एक दम उज्ज्वलतम कर दीजिये!

मदन—बहुत अच्छा, ऐसा ही होगा। मित्र, तब तू बड़े वेग से श्वास भरकर दक्षिण पवन को चला। ज्यों मन्द पड़ा हुआ यौवन का सोता फिर नये उल्लास के साथ अंग अंग में हिलोरें लेने लगे। मैं भी आज अपने पाचों शरों का वार कर रात की नींद को भेदे देता हूँ और बाहुपाश में बंधे हुए प्रेमी जोड़े को भोग वती नदीत केरङ्गों में सराबोर किये देता हूँ।

आखिरी रात

अर्जुन और चित्राङ्गदा।

चित्राङ्गदा—प्रभो, आपका मनोरथ सिद्ध हो गया? इस सुगठित, सुललित और नवोनत कोमल सौन्दर्य में जितना सौरभ और मधुरस था सबका उपभोग कर लिया? कुछ कसर तो न रह गई? और भी कुछ इच्छा है? मेरे पास जो कुछ था, क्या सब बीत गया? नहीं प्रभो, नहीं बीता! भला-बुरा अब भी मेरे पास कुछ बच रहा है। आज मैं उसे भी समर्पण करूंगी।

आपको रुचिकर होंगे, ऐसा सोचकर प्रियतम! बड़ी साधना के साथ ये सौन्दर्यकुसुम स्वर्ग के नन्दनवन से लाई और आपके

चरणारविन्द पर चढ़ा दिए। यदि पूजा पूर्ण हो गई हो तो प्रभो, आज्ञा दीजिए कि इस निर्माल्य की टोकरी को मैं मन्दिर के बाहर खाली कर आऊं। अब आप अपनी इस चरण किङ्करी पर प्रसन्नता भरे अपाङ्ग पात कीजिए।

जिस कुसुमावली से मैंने पूजा की है उस कुसुमावली के सदृश्य मधुर सुकोमल और सर्वाङ्गसुन्दर मैं कभी नहीं हूँ प्रभो, मुझमें दोष है, गुण है, पाप है, पुण्य है, कुछ दीनता है, और है जन्म जन्म की तृप्त न होनेवाली कुछ तृषा। मैं तो संसार मार्ग की प्रवासिनी हूँ। मेरे कपड़े धूल में सने हुए हैं, मेरे पाँवों में घाव पड़े हुए हैं। दो घड़ी के जीवन वाली कुसुममावली के समान निष्कलङ्क लावण्य मेरे पास कहा से आवे? परन्तु मेरे पास एक अक्षय और अमर वस्तु है। वह नारी-हृदय है। इस पृथ्वी की मिट्टी से पैदा हुए इस खाकी पुतले में सुख-दुख, आशा-निराशा लज्जा-भय, दुर्बलता-व्यथा, नेम-प्रेम इत्यादि सब कुछ मनोविकार एक साथ इकट्ठे हुए हैं। इसमें एक बड़ी भारी असीम और अनन्त अपूर्णता। कुसुम सौरभ से तृप्त हो गये हो तो अब इस जन्म जन्मान्तर की चरणानुरागिणी दासी पर कृपा दृष्टि कीजिए।

सूर्योदय।

(घूंघट खोलकर।)

चित्राङ्गदा—राजेन्द्र-नन्दिनी चित्रांगदा मैं ही हूँ। कदाचित याद पड़ता होगा कि एक दिन उस सरोवर के तटपर शिवालय मे एक स्त्री दिखाई दी थी। जो सुन्दरी न थी, परन्तु जेवरों से लदी हुई थी, जिसने लज्जा छोड़ कर न जाने क्या क्या कहा था, और

पुरुष की आराधना पुरुष की भांति करने लगी थी। आपने उसकी उपेक्षा की थी! अच्छा ही किया था। यदि आप उसे ग्रहण कर लेते तो जीवन भर अनुताप के मारे उसका हृदय जला करता। प्रभो! वह स्त्री मैं ही हूँ। वह हूँ तो भी मैं वह नहीं हूँ, वह तो मेरा एक तुच्छ स्थूल देह था! इसके बाद मैंने वसन्त के बरदान से एक वर्षभर के लिये अनुपम रूप पाया। मैंने अपनी कला के प्रभाव से वीर हृदय को थका दिया। वह भी मैं नहीं हूँ मैं तो चित्रांगदा हूँ—

न तो मैं देवी हूँ और न मैं साधारण रमणी ही हूँ। पूज कर माथे पर चढ़ाओ ऐसी भी नहीं हूँ तो तुच्छ कर पालन पोषण किया करो वह भी नहीं हूँ यदि मुझे सङ्कट के विकट मार्ग में साथ रक्खो, यदि मुझे कठिन-कठिन चिन्ताओं में भाग लेने दो, यदि मुझे महा कठोर व्रतों में सहायता देने की अनुमति दो और यदि मुझे सुख दुख के समय सहचरी होने दो तो जान पाओगे कि मैं कैसी हूँ—यदि वह पुत्र रूप में प्रकट हुआ तो उसे मैं बचपन से वीरोचित शिक्षा दूँगी और एक दिन उसे उसके पास पूर्ण पराक्रमशाली दूसरा अर्जुन बनाकर भेज दूँगी तब जानोगे प्रियतम! मैं क्या हूँ! आज तो मैं केवल आपके चरणों में समर्पित होती राजेन्द्रनन्दिनी चित्रांगदा!

अर्जुन—प्रिये आज मैं कृतकृत्य हुआ।



तरुण भारत-ग्रन्थावली—सं० ६

सदाचार और नीति

लेखक

लक्ष्मीधर वाजपेयी

प्रकाशक

लक्ष्मी-आर्ट-प्रेस, दारागंज, प्रयाग

[चतुर्थावृत्ति १०००] सं० १९९७ वि० [मूल्य ।।।)

मुद्रक—भगवतीप्रसाद वाजपेयी, लक्ष्मी-आर्ट-प्रेस, दारागंज, प्रयाग।

निवेदन

तरुण-भारत-ग्रन्थावली की यह नवीं संख्या लेकर आज हम अपने प्रिय पाठकों के सम्मुख उपस्थित हुए हैं। इस पुस्तक का विषय "सदाचार और नीति" नाम ही से प्रकट है। इसमे सदाचार और नीति का विवेचन वैयक्तिक, कौटुम्बिक और सामाजिक दृष्टि से किया गया है। चाहे कोई एक व्यक्ति हो, अथवा राष्ट्र हो, सदाचार और नीति के नियमों का पालन करना सब के लिये बहुत आवश्यक है। तथापि वैयक्तिक चरित्र का समाज पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है।

वर्तमान समाज में हमारी नीति और सदाचार की उन्नति नहीं हो रही है, इसी कारण से हमारी राष्ट्रीय उन्नति भी रुकी है। ऐसी दशा मे आवश्यक है कि हमारी मातृभाषा में सदाचार और नीति पर उत्तम-उत्तम ग्रन्थ प्रकाशित हों। आनन्द की बात है कि हिन्दी के प्रकाशकों ने इस आवश्यकता को समझ लिया है और इस विषय पर अच्छे-अच्छे ग्रन्थ निकल रहे हैं। साथ ही ये भी बड़े शुभ लक्षण हैं कि हमारे नवयुवक इन ग्रन्थों को बड़े प्रेम से पढ़ते हैं। हमारी यह छोटी सी पुस्तक भी, आशा है, हमारे विचारशील नवयुवकों को, उनके चरित्रगठन के कार्य में, अवश्य कुछ न कुछ सहायक होगी।

यह पुस्तक श्रीयुत केशव-लक्ष्मण किल्लेदार बी० ए०, एल०-एल० बी० की मराठी-पुस्तक "शील आणि नीतिमत्ता" के आधार पर लिखी गई है। अतएव उक्त महानुभाव के प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता प्रकाश करते हैं।

प्रयाग
आश्विन शुक्ल ५,
१९७७

लक्ष्मीधर वाजपेयी

द्वितीयावृत्ति

सन्तोष की बात है कि इस पुस्तक को हिन्दी-संसार ने बड़े प्रेम से अपनाया। प्रयाग-महिला-विद्यापीठ और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के संचालकों ने इसे धर्मशास्त्र के परीक्षार्थियों के लिये पाठ्यग्रन्थ के तौर पर स्वीकृत किया अतएव हम उनके बड़े कृतज्ञ हैं। आशा है कि विद्या-प्रेमी सज्जनगण उत्तरोत्तर इसका प्रचार बढ़ाकर हमारे उत्साह को बढ़ाते रहेंगे।

—प्रकाशक

तृतीयावृत्ति

इस पुस्तक का प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ रहा है और हिन्दी जनता ने इसको अपना कर हमारा काफी उत्साह बढ़ाया है। इसलिये आज इस पुस्तक की तीसरी आवृत्ति निकालते हुये हमको बहुत हर्ष हो रहा है।

—प्रकाशक

चतुर्थावृत्ति

हमारी "सदाचार और नीति" पुस्तक स्कूलों में चरित्र सुधार की शिक्षा देने के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है। इस विषय की कई परीक्षाओं के कोर्स में यह पुस्तक अनेक संस्थाओं में खूब चल रही है। जो सज्जन इसके प्रचार में भाग ले रहे हैं उनको हमारी ओर से अनेक धन्यवाद हैं।

—प्रकाशक

ाणिका

सदाचार और नीति

पहला प्रकरण

आवश्यकता और महत्त्व

व्यक्ति हो, चाहे कुटुम्ब हो; समाज हो, चाहे राष्ट्र हो, इन सब का कल्याण और सुख प्रायः उनके सदाचार और नीति पर अवलम्बित रहता है। सदाचार और नीति, यही कल्याण और सुख के घर है तथा अनीति दुःख और आपत्ति का घर है। नीति से सुख और अनीति से दुख मिलता है, यह सिद्धान्त सदा-सर्वदा सत्य और अबाधित है। व्यक्ति, कुटुम्ब, समाज अथवा राष्ट्र के सदाचार और नीति का जब ह्रास होने लगता है, तब उनके नाश का प्रारम्भ हो जाता है। प्रत्येक इमारत की दृढ़ता उसकी नीवँ और उसके स्तम्भों की दृढ़ता पर अवलम्बित रहती है। सदाचार और नीति ही राष्ट्र रूपी इमारत की नीवॅ और स्तम्भ हैं। जिस हिसाब से ये न्यूनाधिक होते है, उसी हिसाब से राष्ट्र की दृढ़ता भी न्यूनाधिक होती है। इमारत बाहर से चाहे जितनी भारी और सुन्दर दिखाई दे, तथापि उसके खम्भे जब सड़ने लगते है, तब उस इमारत के गिरने मे विलम्ब नहीं लगता। इसी प्रकार सदाचार और नीति का जब ह्रास होने लगता है, तब

समाज निर्बल होकर अवश्य नष्ट हो जाता है। आग में हाथ डालने से हाथ अवश्य जलेगा, ऊंचे नीचे कदम पड़ने से चोट लगना अवश्यम्भावी है। इसी प्रकार अनीति का आचरण प्रारम्भ होने से हानि कभी रुक नहीं सकती। दो और दो चार का सिद्धान्त जिस प्रकार गणित-शास्त्र में बिलकुल सत्य है, उसी प्रकार उपर्युक्त सिद्धान्त नीति-शास्त्र में बिलकुल अखंडित है। शरीर का रक्त जब दूषित हो जाता है, तब शरीर को नाना प्रकार के रोग ग्रस लेते हैं; और अन्त में वह नाश हो जाता है। इसी प्रकार व्यक्ति, कुटुम्ब, समाज अथवा राष्ट्र का जीवन रुधिर सदाचार है। उसके बिगड़ जाने से उनमें अनीति का रोग लग जाता है, और उनकी सुदशा, शान्ति और स्थिरता नष्ट हो जाती है—वे धूल में मिल जाते हैं।

मनुष्य की योग्यता सब प्राणियों में श्रेष्ठ मानी गई है। इसका कारण उसका भले-बुरे का ज्ञान अथवा विवेक है। मनुष्य को भले-बुरे काम और उसके परिणाम का ज्ञान होता है, अतएव बुरे काम और उसके बुरे परिणाम का सारा उत्तरदायित्व उस पर आ जाता है।

आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनः पशुभिः समानाः॥

अर्थात् आहार, निद्रा, भय, काम इत्यादि शारीरिक और मानसिक विकारों का प्रभाव अन्य प्राणियों की भाँति मनुष्य पर भी है। परन्तु मनुष्य को परमात्मा ने ज्ञान और विवेक विशेष दिया है; और इसी कारण उसको भले-बुरे, धर्म-अधर्म के विचार की शक्ति प्राप्त हुई है। यह बात अन्य प्राणियों में

नहीं है। अन्य प्राणियों में विशेष ज्ञान और विवेक नहीं होता। अतएव तात्कालिक शारीरिक आवश्यकताएं और मानसिक इच्छा तृप्त करने के अतिरिक्त और कोई विशेष कर्तव्य उनको नहीं रहता। खाना, पीना और उसको प्राप्त करने के लिए, नैसर्गिक प्रवृत्ति के अनुसार, किसी मार्ग का अवलम्बन कर लेना ही मनुष्येतर प्राणियों का कर्तव्य रहता है। उनका जीवन अत्यन्त सादा और अकृत्रिम रहता है। परन्तु मनुष्य का यह हाल नहीं। सुख-प्राप्ति करने की उसकी लालसा अत्यन्त प्रबल होती है, अतएव उसके व्यापार सादे और अकृत्रिम नहीं होते; किन्तु कृत्रिम और बड़े पेचीले होते हैं। अपने बुद्धि-बल के कारण मनुष्य अधिक सुख प्राप्त करने के प्रयत्न में रहता है; और अधिक सुख के साधन उत्पन्न करता रहता है। दूसरी बात यह है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहकर संघ शक्ति और अपनी बुद्धिमत्ता के बल पर मनुष्य ने सर्वत्र अपना अधिकार जमा लिया है, और अपनी जीवन-यात्रा निष्कंटक और सुख-पूर्ण कर ली है। मतलब यह है कि मनुष्य अपने विवेक, सुख-लालसा, बुद्धि-वैभव और संघ-शक्ति के कारण, अन्य प्राणियों की भाँति, केवल नैसर्गिक और सादे व्यापारों मे ही नहीं पड़ा रह गया है, किन्तु उसने कृत्रिम कौर सुखदायक व्यापार उत्पन्न किये है।

विवेक, सुख-लालसा, बुद्धि-वैभव और संघ-शक्ति के कारण मनुष्य ने अपने सुख की वृद्धि कर ली है सही, परन्तु इससे संसार में उसका उत्तरदायित्व भी बहुत बढ़ गया है। सृष्टि का नियम ही है कि जितनी सुविधा हो, उतनी ही असुविधा भी हो। कृत्रिम जीवन के साथ ही साथ उससे सम्बन्ध रखनेवाले कर्तव्य और उत्तरदायित्व भी उत्पन्न हुए। निस्संदेह

समाज में रहने के कारण मनुष्य को सारे सुखों का भोग मिल सकता है; परन्तु इसके साथ ही समाज और उसके भिन्न भिन्न व्यक्तियों के सम्बन्ध मे उसका कर्तव्य भी तो उत्पन्न हो जाता है।

समाज मे प्रत्येक मनुष्य के, भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से भिन्न-भिन्न सम्बन्ध उत्पन्न हो जाते हैं, अतएव इस बात का भी विचार करना आवश्यक है कि उसके साथ वर्ताव किस प्रकार का किया जाय। अपने सुख के साथ दूसरे के सुख का भी विचार करना आवश्यक है। वास्तव मे विचार इसी बात का होना चाहिए कि सभी का कल्याण किस मार्ग से हो। मा-बाप, भाई-बहन, रिश्तेदार-नातेदार, इष्ट मित्र, समाज और राष्ट्र के विषय में अपने कर्तव्यों को जानकर तदनुसार वर्ताव करने का सब को प्रयत्न करना चाहिये प्रत्येक मनुष्य कोई स्वतन्त्र प्राणी नहीं है। उसकी स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता का समाज की दूसरी व्यक्तियों से बहुत गहरा सम्बन्ध है; और उनके साथ उसका कुछ-न-कुछ कर्तव्य भी है। अतएव उसकी स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता की कोई सीमा होनी चाहिए, और प्रत्येक का वर्ताव ऐसा होना चाहिए कि जिससे सब के सुख और कल्याण की वृद्धि हो। वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्यों को पूर्णतया जानकर उनके अनुसार वर्ताव करना प्रत्येक मनुष्य का धर्म है। प्रत्येक मौके पर यथोचित वर्ताव करने प्रत्येक को अपनी निज की और अपने देश की उन्नति और कल्याण करने का सदैव प्रयत्न करते रहना चाहिए। मनुष्य प्राणी ऊपर ऊपर से जितना स्वतन्त्र दिखाई देता है, उतना स्वतन्त्र वह कदापि नहीं है। वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक, राष्ट्रीय

इत्यादि कर्तव्य-शृङ्खलाओं से वह ख़ूब जकड़ा हुआ है। कर्तव्य का यथोचित पालन करके ही उसको इन शृङ्खलाओं से अपना छुटकारा कर लेना चाहिए। उपर्युक्त प्रकार से अपनी निज की, और अपने देश की उन्नति जिस बर्ताव से होती है, उस बर्ताव को ही नीति का बर्ताव कहना चाहिए। इसी श्रेष्ठ नीति का सदैव यथोचित पालन करके उसकी वृद्धि करना मानो अपने सदाचार की उन्नति करना है।

प्रत्येक सुसंगठित समाज में आज-कल कुछ नीति-सिद्धान्त निश्चित हो गये हैं, और उनका ज्ञान तथा उनका परिचय प्रत्येक विचारशील मनुष्य को अवश्य ही होता है। प्रायः समझदार मनुष्य साधारण तौर पर यह जानता ही है कि नीति का बर्ताव कौनसा है, अनीति का बर्ताव कौनसा है। इसमें कोई विशेष भेद नहीं है। फिर भी प्रत्येक मौके पर नीति-नियमों का उचित रूप से प्रतिपालन करके अपनी नीति और सदाचार की उन्नति करना मनुष्य का परम पवित्र कर्तव्य है।

उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्

भगवद्गीता

अर्थात् प्रत्येक मनुष्य को अपना यथोचित कर्तव्य करके उन्नति कर लेनी चाहिये, दुष्कर्म करके अधोगति को न प्राप्त होना चाहिये। मन में अनीति के विचार न उठने देना चाहिये। नीति-नियमों का यथोचित पालन सबको करना चाहिये। अनीति के कारण यदि नीतिनियमो का पालन न होगा, तो समाज मे बड़ा उपद्रव मच जायगा। क्रमशः उसकी अवनति होकर अन्त मे उसकी स्थिरता और सुदशा बिलकुल नष्ट हो जायगी। पृथ्वी की सब स्थावर-जंगम वस्तुएँ गुरुत्वाकर्षण-

शक्ति के कारण पृथ्वी को पकड़े हुए हैं और इसी कारण उन वस्तुओं में स्थिरता है। इसी प्रकार नीति-नियमों का जब यथोचित प्रतिपालन होता है, तब संसार की सुदशा और शान्ति स्थिर रहती है। पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षणशक्ति यदि न रहे तो सब चराचर वस्तुएँ इधर-उधर दौड़ती फिरें, और अन्त में कहीं न कहीं टकराकर नाश हो जायँ। इसी प्रकार नीति का यदि ठीक ठीक पालन न किया जाय, तो चारों ओर उपद्रव मच जाय; और मानव-समाज अवनति की दशा को प्राप्त करके अन्त में नष्ट हो जाय। विस्तीर्ण समुद्र में जहाज़ पर होकायंत्र यदि न हो, तो वह दिशा भूल जाय, तथा और के और ही मार्ग में चला जाय, चट्टान में टकराकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाय। इसी भांति जिस समाज में नीति-नियमों का उल्लंघन किया जाता है, उसमें अनीति बढ़ती है, वह अवनति की ओर कदम बढ़ाते जाता है, उसमें उपद्रव और झगड़े बढ़ते हैं जाते हैं; और अन्त में उसका नाश हो जाता है।

लौकिक सम्पत्ति की अपेक्षा नैतिक सम्पत्ति अधिक श्रे है। निस्सन्देह, व्यक्ति, कुटुम्ब, समाज अथवा राष्ट्र के लि द्रव्य की आवश्यकता सदैव ही रहती है—यही नहीं, बल्कि द्रव्य के अभाव में कभी कभी नीति भी बिगड़ जाती है; और वह अनीति के मार्ग में प्रवृत्त होने लगता है; फिर भी द्रव्य मनुष्य का साध्य नहीं है, वह एक साधन है। उसकी आवश्यकता मनुष्य को इसी लिये है कि उसका योगक्षेम चलता रहे, उसके कर्तव्य और उन्नति के मार्ग में बाधा न आवे, उसका मार्ग द्रव्य के कारण सुविधाजनक बना रहे। वेदों में ऋषि प्रार्थना करते हैं कि, 'हे ईश्वर, हमारे पशु कुशल-पूर्वक रहें, किसी प्रकार का विघ्न न आवे, इस लिये हमारे

धन, गोधन की रक्षा कर।' इससे साफ़ मालूम होता है कि वैदिक ऋषि द्रव्य को अपने कर्तव्य और अपनी उन्नति का साधन मात्र समझते थे। अस्तु। इसके सिवाय लक्ष्मी चंचल भी है। आज है, कल नहीं है, इसका कौन ठीक है? और जो अस्थिर तथा पराधीन वस्तु है, उसका मूल्य भी निस्सन्देह कम ही होगा। इसी लिए कहते हैं कि महापुरुष, सम्पत्ति हो, चाहे विपत्ति हो—अपना सदाचार और नीति का मार्ग नहीं छोड़ते।

उदेति सविता ताम्रः ताम्र एवास्तमेति च
संपत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ॥

"सूर्य उदय होते समय भी लाल ही रहता है; और अस्त होते समय भी लाल ही रहता है। इस प्रकार सम्पत्ति आवे, चाहे विपत्ति आवे—महापुरुषों के स्वभाव मे कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता।" यह बिलकुल ठीक है। इसी प्रकार राजर्षि भर्तृहरि ने भी अपने नीतिशतक में नीतिमान् पुरुषों का महत्व दिखलाया है :—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु।
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ॥
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा।
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥

"नीति-निपुण पुरुष निन्दा करे, चाहे स्तुति करें; लक्ष्मी आवे, चाहे चली जाय, मरण आज हो जाय, चाहे युगान्तर मे हो, धीर पुरुष नीति मार्ग से एक कदम तक नहीं हटाते।"

इस श्लोक मे नीति का मूल्य क्या ही उत्तमता से निश्चित किया गया है! कवि ने बहुत ही सख्त ताकीद की है कि किसी

दशा में भी हमको नीति मार्ग से बिलकुल डिगना न चाहिये। सच ही है, नैतिक सम्पत्ति ही वास्तव मे सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति है। उसी को प्राप्त करने के लिये मनुष्य को अविश्रान्त परिश्रम करना चाहिए ; इसी मे मनुष्य का मनुष्यत्व है। नीति और सदाचार का ऐसा ही महत्व सब ऋषियों-महर्षियों और साधु-महात्माओं ने गाया है। सारांश यह है कि, नीति का उच्च ध्येय सामने रखकर, उसको सिद्ध करने का प्रयत्न करते हुए, मनुष्य को अपनी संसार-यात्रा मे चलना चाहिये।

नैतिक सम्पत्ति को गौण समझते हुए भौतिक सम्पत्ति को मुख्य जानकर ही यदि मनुष्य अपना व्यवहार चलावेगा, तो बड़ी गड़बड़ी पड़ेगी। इससे सदाचार का ह्रास होगा और सब प्रकार से उसकी हानि होगी। सच है, साध्य और साधन का भेद न समझते हुए यदि आचरण किया जायगा, तो हानि हुए बिना कैसे रहेगी? शरीर का जड़ भाग उसके सूक्ष्म कल्पनामय भाग से कम दर्जे का है। अतएव जड़ भाग को सुख देनेवाली भौतिक सम्पत्ति सूक्ष्म कल्पनामय भाग को आनन्द देनेवाली नैतिक सम्पत्ति से कम दर्जे की अवश्य ही होगी। लौकिक सम्पत्ति को ही परम ध्येय मानकर यदि मनुष्य नैतिक धन को गौड़ स्थान देगा, तो फिर वह कौन से पापाचरण मे प्रवृत्त न होगा?

लोभश्चेदगुणेन किम्।

—भर्तृहरि

"यदि लोभ है, तो फिर और दूसरा अवगुण कौन चाहिए?" लोभ के चंगुल मे पड़कर इस संसार में मनुष्य ने क्या-क्या अत्याचार नहीं किये? इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे कि धन, राज्य, स्त्री के लालच में पड़कर

लोगों ने अत्यन्त घोर कर्म किये हैं। राज्य-लोभ के कारण ही कैकेयी के समान कोमल माता का हृदय पत्थर के समान कठोर और अत्यन्त निर्दय बन गया! भरत को राज्यप्राप्ति कराने के लिये ही उसने श्रीरामचन्द्र के समान सुशील पुत्र को भयंकर वनवास दिलाया। प्रसिद्ध आंग्ल कवि शेक्सपियर के "हैमलेट" नाटक के राजा ने राज्य-लोभ के कारण अपने सगे भाई का किस प्रकार खून किया, इसका बहुत उत्तम चित्र कवि ने खींचा है। इङ्गलैंड के राजा जान ने राज्यलोभ के कारण अपने सगे भतीजे आर्थर को क़िले में कैद करके अन्त में दुष्ट और निर्दय वधिकों के द्वारा उसको मरवा डाला! अस्तु। सम्पूर्ण पवित्र नीति-नियमों को एक ओर रखकर, केवल भौतिक सम्पत्ति की ही ओर जब मनुष्य बिलकुल झुक जाता है, तब उसके हाथ से इसी प्रकार के अमानुषीय अत्याचार होने लगते हैं। परन्तु अपने अतुल नैतिक तेज से चमकनेवाले छत्रपति शिवाजी महाराज ने अपने परम पूज्य गुरु श्रीरामदास स्वामी को अपना सम्पूर्ण राज्य समर्पित कर दिया; और उक्त स्वामीजी महाराज ने भी तुरन्त ही वह सम्पूर्ण राज्य सम्पत्ति फिर शिवाजी महाराज को वापस कर दी। इस उदाहरण में दोनों महानुभावों की श्रेष्ठ नीति का बहुत अच्छा आदर्श पाया जाता है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण भारतीय इतिहास में मिल सकते हैं। सच है, नैतिक धन को एकत्र करना ही जिन्होंने अपने जीवन का उद्देश्य समझा है, उनके हाथ से ऐसे उत्तम कार्य स्वाभाविक ही होते हैं।

प्रसिद्ध अँगरेज ग्रन्थकार स्माइल्स साहब अपने "Character" (सदाचार) नामक सुन्दर ग्रन्थ में लिखते हैं:—

"Learning commands admiration, but character commands respect."

अर्थात् "विद्वान मनुष्य अपनी विद्वत्ता से सब को प्रसन्न कर लेगा, परन्तु सदाचारी पुरुष अपनी नीति से लोगों में प्रतिष्ठा प्राप्त करेगा।" विद्वत्ता का तेज बिजली के समान बीच-बीच में चमकता रहता है; परन्तु नैतिक तेज शीतल चंद्रप्रकाश के समान बराबर सब को सुख और शांति देता रहता है। विद्वत्ता के साथ साथ यदि मनुष्य में नीतिमत्ता भी होती है तो मानो सोने में सुगन्ध आ जाती है। परन्तु विद्वान मनुष्य मे यदि नीतिमत्ता नहीं होती, तो उसकी वह कोरी विद्वत्ता बिलकुल निष्फल रहती है, उससे संसार को कोई लाभ नहीं होता। मस्तिष्क के साथ-साथ अन्तःकरण की वृद्धि भी आवश्यक है। श्रेष्ठ विद्या और श्रेष्ठ नीति का जब उत्तम संयोग होता है, तभी उससे मानव समाज का कुछ लाभ हो सकता है। शरीर का रक्त कलेजे में जाकर वहां शुद्ध होता है; और तब फिर सारे शरीर में संचार करके मस्तिष्क में पहुँचता है। कलेजे के शुद्ध और स्वच्छ रक्त से यदि मस्तिष्क का पोषण नहीं होता, तो मस्तिष्क निर्बल और अशक्त हो जाता है—आरोग्य और स्वस्थ नहीं रहता। इसी प्रकार अन्तःकरण से द्रवित होनेवाला सद्गुणों का मधुर रस यदि बुद्धि में नहीं फैलता, तो वह बुद्धि नीरस और रूखी बनी रहती है; और उससे कुछ लाभ नहीं होता। प्रसिद्ध अँगरेज़ तत्ववेत्ता लार्ड बेकन साहब का मत है कि, कोई भी विद्या अथवा कला हो, उसका उपयोग मानव जाति के सुख और कल्याण की वृद्धि करने में हो सकता है। तभी उस विद्या अथवा कला का कुछ मूल्य है, अन्यथा उससे कोई

लाभ नहीं। स्पष्ट ही है, डब्बे में बन्द कर रखी हुई कस्तूरी चाहे जितनी सुगन्धित हो, परन्तु जब तक वह डब्बा खुल कर उस कस्तूरी का परिमल लोगों को न प्राप्त हो, तब तक उसका होना न होना बराबर है। मतलब यह है कि बुद्धि के विकास के साथ ही साथ अन्तःकरण का विकास जब तक न होगा, तब तक उस बुद्धि से कोई लाभ न होगा।

नीतिमान् पुरुष का गौरव और उसकी प्रतिष्ठा बहुत बड़ी होती है। श्रेष्ठ नीतिमत्ता का प्रभाव संसार पर बहुत ही विचित्र पड़ता है। जिस प्रकार चुम्बकमणि लोहे को अपनी ओर खींच लेता है, उसी प्रकार नीतिमान् पुरुष दूसरे का हृदय अपनी ओर खींच लेता है। ऐसे लोगों में एक प्रकार की आकर्षणशक्ति होती है, जिससे दूसरे लोगों का हृदय उनमें तल्लीन होकर उनके पीछे-पीछे दौड़ने लगता है। नीतिमत्ता में ऐसी कुछ शक्ति होती है कि जो मनुष्य उसे धारण करता है, उसके हाथ से बहुत बड़े-बड़े कार्य होते हैं। अधिक क्यों? यह कहना चाहिये कि नीतिश्रेष्ठ मनुष्यों के अतिरिक्त बड़े बड़े कार्य और किसी से हो ही नहीं सकते। छत्रपति शिवाजी, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, स्वामी दयानन्द, जार्ज वाशिंगटन, एब्राहम लिंकन, इत्यादि महापुरुषों के जीवन-चरित्र पढ़ने से हमारे कथन की सत्यता भली भाँति प्रतीत हो जायगी।

शिवाजी महाराज की श्रेष्ठ नीतिमत्ता बहुत प्रसिद्ध है। एक बार कल्याण के सूबेदार के यहाँ से बड़ा भारी ख़ज़ाना बीजापुर के दरबार मे जा रहा था। महाराज वह ख़ज़ाना लूट कर रायगढ़ पर ले आये। इससे कल्याण के सूबेदार से उनका बड़ा भारी वैर होगया। परिणाम यह हुआ कि महाराज नेआबाजी सोनदेव नामक अपने एक सरदार को कल्याण

के सूबेदार पर चढ़ाई करने को भेजा। आबाजी ने कल्याण पर धावा करके सूबेदार को पराजित किया और उसे कैद कर लिया। यह समाचार सुनकर शिवाजी महाराज बड़े प्रसन्न हुए; और स्वयं कल्याण पहुँचे। वहाँ जाकर सूबेदार को उन्होंने कैद से छुड़ा दिया; और उसको बड़े आदर-सत्कार के साथ बीजापुर रवाना कर दिया। पराजित शत्रु के साथ उदारता का बर्ताव करना इसी को कहते हैं! इसी का नाम है श्रेष्ठ सदाचार और नीति। अस्तु। आगे जो घटना लिखी जाती है उससे महाराज के सदाचार और नीति का और भी अधिक परिचय मिलता है। उपर्युक्त सरदार आबाजी ने लड़ाई के गड़बड़ में उक्त कल्याण के सूबेदार की पुत्रवधू को भी पकड़ रक्खा था। महाराज जब कल्याण मे आये, तब आबाजी ने उनसे प्रार्थना की कि, इस लवाज़मे में एक अत्यन्त लावण्यवती युवती मिली है। उसको महाराज की सेवा के योग्य समझकर हमने रख लिया है। यह सुनकर महाराज शिवाजी ने आज्ञा दी कि, उस सुंदरी को सभा में ले आओ। यह आज्ञा पाते ही वह सरदार उसको ख़ूब सजाकर सभा में ले आया। महाराज उसको देखकर हँसे और बोले कि, यदि हमारी माता भी इसी प्रकार की सुन्दर होती, तो हमारा भी स्वरूप उसी के समान हुआ होता। यह सुनकर सब लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। महाराज के मनोनिग्रह पर सब को बड़ा कौतूहल हुआ; और सब को यह विश्वास हो गया कि महाराज अत्यन्त उदार महापुरुष हैं। उसके बाद महाराज ने उस स्त्री को वस्त्रालंकार देकर बड़े गौरव के साथ उसके श्वसुर के पास, जो कि बीजापुर में था, भेज दिया। यही उत्तम सदाचार और नीति है। ऐसे ही श्रेष्ठ आचरण के कारण

महाराज का वह गौरव और प्रभाव था। ऐसा नीतिश्रेष्ठ पुरुष यदि बड़े-बड़े महान् कार्य संसार में कर जाय, तो इसमें क्या आश्चर्य है? उस भयंकर संकट के समय मे हिन्दू-धर्म की जिसने रक्षा की, उस महात्मा राजर्षि शिवाजी का सदाचार और उसकी नीति वास्तव मे ऐसी होनी ही चाहिये। जिस पुरुष ने अपने मन को पूर्णरूप से क़ब्ज़े मे कर लिया है उसे शत्रुओं को क़ब्ज़े में करना क्या कठिन बात है! अमेरिका के प्रसिद्ध प्रेसिडेंट जार्ज वाशिंगटन भी इसी प्रकार के महानीति-सम्पन्न पुरुष हो गये है। आठारहवीं शताब्दी में उस देश को स्वतंत्र करने के लिये जो युद्ध हो रहा था, उसके मुखिया वाशिगटन साहब ही थे। उन्हीं के नेतृत्व मे अनाड़ी और अशिक्षित लोगों ने विजयश्री सम्पादन की थी। इन लोगों को उत्साह और स्फूर्ति दिलानेवाला वही सदाचारी और नीतिमान् पुरुष था कि जिसके कारण अमेरिका देश गुलामी की जंज़ीर तोड़कर सदैव के लिये स्वतंत्र हो गया। जार्ज वाशिंगटन जब छोटे थे, एक बार इनके पिता ने क्रुद्ध होकर पूछा कि "क्या हमारा प्रिय बेर का वृक्ष तूने ही काट डाला"? इस पर निर्भयतापूर्वक उन्होंने कहा कि "हाँ पिता जी, हमने ही उसे काटा है।" इस प्रकार के सत्य-प्रिय और धैर्यसम्पन्न पुरुष से जैसे महान् कार्य होने चाहिएं, वैसे ही वाशिगटन के हाथ से हुए। सच है, नीति मे बहुत बड़ी शक्ति होती है। सदाचार का बल संसार मे सब बलों से श्रेष्ठ है। इसके आगे सैकड़ों हाथियों का बल कोई चीज़ नहीं है। छत्रपति शिवाजी और जार्ज वाशिगटन के समान महा-पुरुषों के सदाचार और नीति के प्रभाव से हज़ारों लोग सत्कार्य के लिए अपने प्राण देने को तैयार हो गये। सदाचार

ही एक ऐसी शक्ति है कि जिसके कारण हज़ारों मनुष्यों के हृदय एक मनुष्य की ओर खिंच सकता है, और जब उनके हृदय आकर्षित हो जायगा, तब उनका शरीर क्यों न खिंचेगा।

पीछे बतलाया गया है कि मनुष्यप्राणी सर्वथैव स्वतंत्र नहीं है। उसका सम्बन्ध कुटुम्ब और समाज की अन्य व्यक्तियों से भी है। इसके सिवाय मनुष्य अनुकरण करनेवाला प्राणी भी है। मानवी बुद्धि तीव्र होती है, अतएव उसमें अनुकरण करने की शक्ति भी बहुत बड़ी होती है। इसी कारण प्रत्येक मनुष्य के बुरे भले कार्यों का परिणाम न सिर्फ उसी के लिए होता है, किन्तु उस परिणाम का क्षेत्र बहुत व्यापक हो जाता है। कुटुम्ब का एक मनुष्य यदि बुरा निकल जाता है तो वह दस मनुष्यों के बिगाड़ने का कारण बनता है। इसी प्रकार एक सदाचारी और नीतिमान् मनुष्य अपने आसपास के दस-बीस आदमियों पर अपने चरित्र का प्रभाव डालकर उनको सदाचारी बना देता है। सत्कार्य की किरणें सूर्य की किरणों की भाँति चारों ओर फैलकर अपना प्रकाश डालती हैं, और लोगों को उन्नति का मार्ग दिखलाती हैं। किसी जलाशय में जब कोई लहर उत्पन्न होती है, तब वह सिर्फ अपनी जगह पर ही नहीं ठहरती, किन्तु बढ़ती हुई सम्पूर्ण जलाशय को व्याप्त कर लेती है, इसी प्रकार बुरे-भले कार्यों के परिणाम भी संक्रमणशील और व्यापक होते हैं; और इस कारण समाज के प्रत्येक व्यक्ति पर उसके भले बुरे कामों का बड़ा भारी उत्तरदायित्व आ पड़ता है। यह उत्तरादायित्व प्रत्येक मनुष्य को जानना चाहिए। अनेक अज्ञानी लोग कहते रहते हैं कि "मैं अपने मन का आप राजा हूँ, मुझसे दूसरों से क्या मतलब है?" परन्तु वास्तव में उनका यह कथन बिलकुल ही अनु

चित है। उनको यह खूब ध्यान में रखना चाहिए कि उनके बुरे-भले कार्यों का हानि-लाभ न सिर्फ उन्हीं भर के लिए है, किंतु उसका प्रभाव समाज पर पड़े बिना कदापि न रहेगा। इस तत्व को भली भांति समझकर ही प्रत्येक मनुष्य को संसार में अपना वर्ताव करना चाहिए।

भले-बुरे काम का परिणाम जिस प्रकार केवल कर्ता के लिए ही नहीं होता, किन्तु उसका क्षेत्र व्यापक होता है, उसी प्रकार उसका परिणाम केवल तात्कालिक ही नहीं होता, किंतु न्यूनाधिक काल तक टिकता है। इस कारण कर्ता का उत्तर-दायित्व और भी अधिक बढ़ जाता है।

सत्रहवीं शताब्दी मे शिवाजी महाराज ने जो नैतिक तेजस्विता महाराष्ट्र प्रान्त में उत्पन्न कर दी थी, वह सारे देश में फैल गई थी, और महाराज के बाद भी अनेक वर्षों तक उक्त प्रान्त में उसका प्रभाव बना रहा था। इसी कारण मराठों का राज्य आगे भी बहुत दिनों तक बना रहा शिवाजी की मृत्यु के बाद मुसलमान लोगों ने मराठों का राज्य फिर से ले लिया होता; किन्तु छत्रपति ने जो तेजस्विता उत्पन्न कर दी थी, वह उनके बाद के उनके बड़े-बड़े कार्यकर्त्ता सरदारों मे भी बिलकुल भिन गई थी और इसी कारण वे महाराष्ट्र-राज्य की रक्षा करने मे समर्थ हुए। यहां तक कि शिवाजी महाराज के पुत्र सम्भाजी के ज़माने में दुराचार बहुत कुछ बढ़ गया था, फिर भी शिवाजी के राष्ट्रीय तेज और उनके सदाचार के ही प्रभाव से मराठों का सितारा चमकता रहा।

शिवाजी महाराज के समान प्रतापी महापुरुष क्या अकस्मात् ही महाराष्ट्र मे उत्पन्न हो गया? यदि यह कहा जाय कि इतनी बड़ी विभूति अचानक ही उत्पन्न हो गई, तो

यह कथन इतिहास के सिद्धान्तों के बिलकुल विरुद्ध ही समझा जायगा। बात यह थी कि उस समय महाराष्ट्र का नैतिक वायुमण्डल अनेक साधुसन्तों के सत्कार्यों और सदुपदेशों से परिपूर्ण हो रहा था। तेरहवीं शताब्दी में, ज्ञानेश्वर महाराज के समय मे, एक बार जो धार्मिक और नैतिक पवित्र ज्योति जगी, वह वैसी ही अखंड रूप से अगले तीन-चार सौ वर्ष तक चमकती रही। इस अवधि में और भी अनेक प्रसिद्ध साधु महाराष्ट्र मे उत्पन्न हुए, जो अपने सदाचार और सदुपदेश से उक्त ज्योति को और भी अधिक तेजस्वी बनाते रहे। महाराष्ट्र मे उस समय यदि वह तेजस्विता न होती, तो छत्रपति शिवाजी में सदाचार और नीति का वह बल भी शायद न पाया जाता। कारण के बिना कार्य कैसे हो सकता है?

सोलहवीं शताब्दी में योरप मे जो धर्म-क्रान्ति हुई, उसका इतिहास देखने से भी उपर्युक्त सिद्धान्त की ही सत्यता प्रतीत होती है। सुप्रसिद्ध महात्मा मार्टिन लूथर ने अत्यन्त निर्भयता के साथ नैतिक आन्दोलन करके जो धर्म-ज्योति उत्पन्न की, वही आगे चलकर प्रबल होती गई, उसने अपने प्रकाश से हजारों लोगों को प्रकाशित किया और धार्मिक सुधार करके लोगों को पवित्र किया। इस धर्मक्रान्ति ने कितना बड़ा क्षेत्र प्राप्त कर लिया, उसकी ज्योति कितनी चमकदार थी, और वह ज्योति कितने अधिक समय तक चमकती रही, ये सब बातें इतिहास से भली भाँति मालूम हो सकती हैं। मतलब यह है कि बुरे-भले कार्यों के परिणाम, उनके महत्त्व के परिणाम से, न्यूनाधिक क्षेत्र प्राप्त करके, न्यूनाधिक काल तक टिकते हैं।

नीतिमान पुरुष को, उसके सदाचार के कारण, वहुत उत्तम सन्तोष और सुख प्राप्त होता है। उसके सदाचार का क्षेत्र जितना विस्तृत होता है, उतना ही उसके सन्तोष और सुख का क्षेत्र भी बढ़ता जाता है। इसके विरुद्ध दुराचारी मनुष्य के दुराचाररूपी इन्धन से उसकी क्षुद्र और नीच मनोवृत्तियों के जल उठने के कारण जो ज्वालाएं उत्पन्न होती है उनसे उसका सारा शरीर जलने लगता है। सत्कार्यों का पवित्र प्रकाश चन्द्रप्रकाश की भांति आनन्द देकर सदाचारी मनुष्य को आनन्दित कर देता है। सुप्रसिद्ध कवि शेक्सपियर के "ओथेला" नाटक के आयागो के समान दुराचारी मनुष्य का मन यदि खोलकर देखा जाय, तो मालूम हो जायगा कि उसका मन असन्तोप और दुःख के अंगारों से कैसा जल रहा है। सच है, दुष्ट मनोवृत्तियों के वश होकर जो मनुष्य दुष्ट कार्य ही किया करता है, उसको दुःख और परिताप के अतिरिक्त और क्या फल मिल सकता है? मनुष्यों मे विवेक, जो ईश्वरी अंश है, दुष्ट और दुराचारी मनुष्य को उसके दुष्कार्यों के विषय मे सदैव टोकता ही रहेगा।

सन् १८०५ में ट्राफलगार मुकाम नामक पर फ्रेंच और स्पेनिश जहाज़ी वेड़े का पराभव करने के लिये जिस वीर योद्धा ने अश्रान्त परिश्रम और वड़े वड़े प्रयत्न किये, वड़े कठिन समय में जिसने अपने लोगों को कर्त्तव्य के विपय में अत्यन्त धैर्य और उत्साह दिलाया, जिसने वड़े विकट अवसर पर यह स्वदेशाभिमान-पूर्ण सन्देश सुनाया कि, "England expects every man to do his duty" मातृभूमि प्रत्येक मनुष्य से यह दृढ़ आशा रखती है कि वह अपना कर्तव्य पूरा करे" उस वीर नेल्सन ने, फ्रेंच और स्पेनिश लोगों का पराभव

तब फिर कुटुम्ब के प्रौढ़ मनुष्यों को अवश्य ही इस विषय विशेष सावधानी रखनी चाहिए कि छोटे लड़कों के मन उत्तम संस्कार पड़ें, जिससे उनका कोमल मन अच्छे मार्ग ओर प्रवृत्त हो। लड़कों का पालन-पोषण और रक्षण कर जिस प्रकार मा-बाप इत्यादि कुटुम्बी जनों का पवित्र कर्तव है, उसी भाँति उनके आचरण को उत्तम बनाने की सावधा रखना भी उनका परम पवित्र कर्तव्य है। लड़कों के शरी की वृद्धि के साथ-साथ उनके सदाचार की भी वृद्धि हो चाहिए।

मनुष्य का बुरा भला जो कुछ चरित्र बनता है, सो बाल्या वस्था में ही बनता है, क्योंकि इस अवस्था मे उसकी जिज्ञास बहुत बढ़ी चढ़ी हुई होती है। संसार और उसकी वस्तुओं क ज्ञान प्राप्त करने के लिए बालकों का मन बहुत उत्सुक रहत है। आसपास के संसार से उनका पहले विशेष परिचय नहीं होता। प्रत्येक वस्तु उन्हें नवीन और आश्चर्यजनक जान पड़ती है। उसका ज्ञान प्राप्त करने की उनमें तीव्र उत्कंठा रहती है; अतएव ऐसे बालकों के मन में ज्ञान की किरणें बहुत ही वेग के साथ प्रवेश करती है। बालकों के मन की दशा स्वच्छ पानी के समान होती है। स्वच्छ पानी में जिस रंग का मिश्रण किया जाता है उसी रंग का पानी भी हो जाता है। इसी भाँति बालकों के स्वच्छ और उत्कंठापूर्ण मन पर जिस प्रकार के संस्कार डाले जाते हैं, उसी प्रकार का उनका मन बन जाता है।

एक बात और भी है। बालपन में मनुष्य की साधारण विचारशक्ति भी प्रौढ़ नहीं होती। बुरे-भले और सच-झूठ के निर्णय करने की शक्ति उसमें नहीं होती। बालकों की विचारशक्ति

प्रौढ़ नहीं होती। अतएव आसपास वे जो कुछ देखते अथवा सुनते हैं, उसका प्रभाव उनके मन पर बहुत जल्द पड़ जाता है। आसपास की परिस्थिति की प्रतिमा उनके मन पर जैसी की तैसी अंकित हो जाती है। सच है, अप्रौढ़ और अपरिपक्व बुद्धि के बालकों को इस बात का ज्ञान और परिचय कैसे हो सकता है कि सुविचार कौन से हैं, कुविचार कौन से हैं, अथवा सदाचार कौन सा है, दुराचार कौन सा है। इस विषय में वे सर्वथैव आसपास की परिस्थिति पर ही अवलम्बित रहते हैं। आसपास के स्थूल पदार्थों का स्थूल ज्ञान होने भर के लिए छुटपन में बुद्धि की शक्ति बढ़ती जाती है सही, परन्तु सारासार-विचार जागृत होने के लिए बुद्धि मे प्रौढ़ता और गम्भीरता नहीं होती। ऐसी दशा मे लड़कों की शारीरिक वृद्धि के साथ उनकी नैतिक वृद्धि भी माता-पिता इत्यादि बड़ों को ही करनी चाहिए।

हम पहले ही कह चुके है कि मनुष्य एक अनुकरणशील प्राणी है। फिर, बालपन में बुद्धि प्रौढ़ भी नहीं होती, अतएव उसकी अनुकरण करने की प्रवृत्ति और भी अधिक प्रबल होती है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

—भगवद्गीता

"श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करता है, वैसा ही अन्य लोग भी करते हैं—लोग उसी के आदर्श के अनुसार चलते है।", भगवान् के इस वचन के अनुसार अज्ञान जन जानकार पुरुषो का अनुकरण करते है। इसी प्रकार छोटे-छोटे लड़के

भी स्वाभाविक ही बड़ों का अनुकरण करते हैं। बुरे-भले का ज्ञान उनको जब तक नहीं होने लगता तब तक दूसरों का अनुकरण करने की प्रवृत्ति उनमें रहती ही है। सारांश यह है कि, लड़कों की जिज्ञासा और उत्कण्ठा, उनकी बुद्धि-विषयक अपरिकता, और उनकी अनुकरण-प्रवृत्ति इत्यादि कारणों से उनके आसपास की नैतिक परिस्थिति का प्रतिबिम्ब उनके मन पर पड़ता रहता है। वायु जब शुद्ध और स्वच्छ होती है, तब प्रकृति नीरोग रहती है, इसी भांति आसपास का नैतिक वायुमंडल जब शुद्ध होता है, तब लड़कों का चरित्र उत्तम बनता जाता है। यह आसपास का वायुमंडल ही विशेष कर घर का वायुमंडल है।

मनुष्य के मन के बुरे-भले संस्कारों का आदि-स्थान गृह है। मनुष्य में जो सद्‌गुण अथवा दुर्गुण होते हैं, उनका बीज गृह में ही बोया जाता है। छोटे छोटे पौधों का पहले एक छोटा सा बाग़ अथवा नर्सरी तैयार करते हैं, और उनको ठीक-ठीक बढ़ाने के लिए उनमें खाद और पानी तथा मिट्टी इत्यादि विशेष सावधानी से डालते हैं। इस प्रकार जब वे पौधे बढ़ कर कुछ कुछ बड़े हो जाते हैं, तब उस बाग़ से ले जाकर दूसरी जगह, जहाँ उन्हें लगाना होता है, लगाते हैं। बस, इसी भाँति इस विस्तृत संसार में स्वतन्त्रता के साथ चलने-फिरने के पहले लड़कों की यथोचित शारीरिक और नैतिक वृद्धि करने का मुख्य स्थान घर ही है। छोटे-छोटे पौधों को, जिधर चाहें, आप झुका सकते हैं। कुम्हार अपने पात्र को चाहे जो आकार दे सकता है। इसी प्रकार छोटे छोटे बच्चों को भी घर में बुरे-भले चाहे जैसे मार्ग में लगा सकते हैं। पौधा बढ़कर जब बड़ा भारी वृक्ष बन जाता है तब उसको किसी ओर झुकाना बहुत

ही कठिन, किंबहुना असम्भव भी हो जाता है। इसी प्रकार घर में लड़कों के मन पर बुरे भले जो संस्कार होते है, वे आगे चलकर बहुत ही दृढ़ हो जाते हैं; और फिर उन संस्कारों का परिमार्जन करना बहुत ही कठिन हो जाता है। वृक्षों की जड़ें जब बहुत दूर तक गहरी चली जाती है, तब उनका उखाड़ना बहुत ही कठिन होता है। हाथी की सूँड़ का आघात भी उन पर कुछ काम नहीं करता। इसी भाँति घर मे लड़कों के मन पर बुरे-भले संस्करों का जो प्रभाव पड़ जाता है, वह फिर मानो वज्रलेप ही हो जाता है। मतलब यह है कि मनुष्य का बुरा अथवा भला निकलना बहुत कुछ उसकी बाल्यावस्था पर ही निर्भर है, और उसके मन पर बुराई अथवा भलाई के संस्कार अधिकतर घर से ही प्रारम्भ होते हैं।

घर की जगह जगह की गन्दगी निकालकर उसकी हवा स्वच्छ रखना आरोग्य की दृष्टि से आवश्यक है। गन्दगी यदि नहीं निकाल दी जायगी, तो कुटुम्ब के लोगों की आरोग्यता के लिए वह अवश्य ही हानिकारक होगी। इसी प्रकार घर का नैतिक वायुमण्डल भी शुद्ध रखना चाहिए। वह यदि बिगड़ जायगा तो नैतिक ह्रास शुरू हो जायगा, और अनीति की प्रबलता बढ़ती जायगी। घर के अपरिपक्व बुद्धिवाले बालकों पर इस बिगड़े हुए नैतिक वायुमण्डल का बहुत ही बुरा असर पड़ता है। कारण स्पष्ट है। घर के बड़े लोगों का लड़कों पर स्वाभाविक ही बड़ा प्रभाव होता है। लड़के उनके विषय में बड़ी आदर-बुद्धि रखते हैं, बड़ा श्रद्धा-भाव रखते है। बड़ों का भी उन पर बहुत प्रेम होता है, और लड़कों का सदैव उनके साथ सहवास रहता है। इन कारणों से अपने बड़ों के समान ही बर्ताव करने की लड़कों को स्वाभाविक ही आदत

पड़ जाती है। घर के अतिरिक्त और कहीं भी लड़कों आचरण पर प्रभाव डालनेवाले इतने कारण नहीं मिल सकते घर के ये सभी बड़े-बड़े कारण यदि लड़कों का मन अपने ओर खींच लें, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। अवश्य ही लड़के का कोमल मन उपर्युक्त कारणों के चक्कर में आकर अपने बड़े का अनुकरण करने लगता है; और उन्हीं के समान लड़के बन जाते है। किसी कवि ने कहा है:-

कीट भृङ्ग ऐसे उर अन्तर।
मन स्वरूप कर देत निरन्तर॥

'भृङ्गी' नाम का एक कीडा होता है। उसमें यह विशेषता होती है कि वह जिस किसी कीड़े को पकड़कर अपने चक्कर मे डालता है, उसी को बिलकुल अपना सा रूप दे देता है — फिर उस कीड़े मे और उस भृङ्गी में कुछ भी अन्तर नहीं रहता। इसी भाँति बड़ों के अखंड सहवास में आकर यदि लड़के भी वैसे ही बन जाँय तो इसमें आश्चर्य क्या है। उपर्युक्त कारणों से ही घर में नीति अथवा अनीति का बीजारोपण हुआ करता है। मनुष्य का बुरा अथवा भला निकलना अधिकांश में गृहस्थिति पर ही अवलम्बित रहता है। उत्तम नागरिक उत्पन्न होना उत्तम गृह स्थिति का लक्षण है। दुष्ट और स्वार्थी लोग पर-पीड़क होते है। पर-पीड़ा का पाठ उन्हें घर से ही पढ़ाया जाता है। इसी प्रकार सदाचार के सद्गुण भी घर से ही प्रारम्भ होते है। मतलब यह है कि सद्गुणों अथवा दुर्गुणों का आदिस्थान घर ही है। अतएव प्रत्येक गृहस्थ को अपना गृह शुद्ध और निर्दोष रखना चाहिए।

प्रसिद्ध अंगरेज़ कवि और ग्रन्थकार गोल्डस्मिथ साहब कहते हैं कि घर एक छोटा सा राज्य ही है। मां बाप इत्यादि बड़े लोग इस राज्य के अधिकारी-वर्ग हैं, और छोटे-छोटे बच्चे इस राज्य की प्रजा हैं। घर के अधिकारी वर्ग का यह कर्त्तव्य है कि जो प्रजा उन पर सर्वथैव अवलम्बित है, उनके कल्याण का पूरा-पूरा ध्यान रखकर उन पर अपनी सत्ता और हुकूमत चलावे। उनको स्वयं अपना आचरण अत्यन्त शुद्ध और उच्च रखकर अपनी सन्तान के सामने अपना उच्च आदर्श रखना चाहिए। घर में जिन बुरी-भली आदतों का बीजारोपण होता है, वही आगे चलकर, अपने अनुकूल संस्कारों को प्राप्त करके, विकसित हो जाती हैं। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विकास सर्वथैव घर के बड़े लोगों के आचरण पर ही अवलम्बित रहता है।

इसमें सन्देह नहीं कि लड़कों को सदाचारी बनाना घर के माता-पिता इत्यादि सभी बड़े लोगों का परम पवित्र कर्तव्य है, परन्तु लड़कों का विशेष संसर्ग माता से ही रहता है, अतएव यह पवित्र कर्तव्य-भार विशेषतया माता पर ही आ पड़ता है; और यह पवित्र कार्य चूँकि स्त्रियों को करना पड़ता है, इसी कारण समाज में उनका दर्जा भी बहुत बड़ा है। मातृशक्ति के समान और कोई शक्ति भी नहीं मानी गई है। इस मानवी शरीर में बुद्धि को विचारशक्ति का मुख्य स्थान माना है। अंतःकरण को मनोवृत्तियों का मुख्य स्थान माना है। तदनुसार समाज में बुद्धि की उन्नति करके विचारशक्ति की वृद्धि करना विशेषतः पुरुषों का काम है; और अन्तःकरण अर्थात् हृदय की वृत्तियों को उन्नत बनाकर उनका विकास करना विशेषकर स्त्रियों का कार्य्य है। इसलिए इस समाज-

रूपी शरीर के सब अंग जब अपना अपना कर्त्तव्य उत्तम रीति से करेंगे, तभी इसकी उन्नति और इसका कल्याण होगा।

लड़कों का मन अपनी ओर विशेष ज़ोर से आकर्षित करके अपने समान ही उनकी वृत्ति भी बनाने का कार्य माता ही सबसे अधिक प्रबलता के साथ करती रहती है। लड़कों को अपनी ओर खींचकर उनके मन पर बुरे भले संस्कार डालने के कार्य में माता के समान और किसी का ज़ोर नहीं पड़ सकता। लड़कों की नैतिक वृत्ति पर माता के आचरण का बहुत ही महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है; किंबहुना यह कहने में भी अतिशयोक्ति नहीं कि लड़कों का नैतिक जीवन बहुत कुछ माता के ही ऊपर अवलम्बित रहता है। और ऐसा होना मानवी स्वभाव और ईश्वरीय सृष्टिरचना के अनुकूल ही है। गर्भाधान संस्कार से लेकर लड़का माता के उदर में रहकर, उसी के उदर के अन्न से, बढ़ना रहता है। बच्चा माता के हृदय में बिलकुल तदाकार हो जाता है; और उसी के शरीर में बच्चे का पिण्ड भी बढ़ता है। अब बतलाइये, दो जीवों का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध और कहाँ मिल सकता है! परमात्मा की विचित्र लीलाएँ जो सृष्टि में चारों ओर दिखाई दे रही हैं, उन्हीं में से यह माँ और बच्चे की निकट-अवस्था तथा दृढ़ सम्बन्ध भी एक विशेष विचित्र घटना है। माता के उदर में बढ़कर जब बच्चा जन्म लेता है तब फिर मानो वह बच्चा माता के प्राण से उत्पन्न होनेवाला दूसरा प्राण ही है। ऐसी दशा में उस बच्चे पर माता का निस्सीम प्रेम होना एक स्वाभाविक बात है। संसार में मातृ-प्रेम की समानता और कोई भी प्रेम नहीं कर सकता। यदि यह कहा जाय कि माता के उस

विशुद्ध प्रेम में अवश्य ही ईश्वरी अंश होता है, तो इसमें भी कोई अतिशयोक्ति नहीं। अस्तु। ऐसी दशा मे, माता के उस दिव्य और स्वाभाविक प्रेम के कारण यदि छोटे-छोटे बच्चों का मन उसकी ओर आकर्षित हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। माता के प्रेमपूर्ण वचनों और प्रेमपूर्ण व्यवहार का प्रभाव यदि बालकों के मन पर विचित्र रूप से पड़े, तो इसमें क्या आश्चर्य है? कहा है कि मातृमुख से निकला हुआ प्रेमपूर्ण और मधुर एक शब्द दस सहस्र उपदेशकों के 'बोध-प्रचुर व्याख्यानों से अधिक महत्व का है। यह बिलकुल यथार्थ है। प्रसिद्ध प्रसिद्ध महापुरुषों के जीवनचरित्र पढ़ने से उपर्युक्त कथन की सत्यता सहज ही में मालूम हो जायगी। सम्पूर्ण भारत को अपने महान सत्कर्मों से जिस पुण्यश्लोक पुरुष ने कृतार्थ कर रखा है, उस महापुरुष, अर्थात् शिवाजी महाराज को भी, सत्कार्य के 'श्रीगणेश' का प्रथम पाठ परम साध्वी माता जिजाबाई ने ही पढ़ाया था, यह बात इतिहास के पढ़ने से भली भाँति मालूम हो सकती है। निस्सन्देह शिवाजी महाराज के समान बड़ी विभूतियों में नैसर्गिक ईश्वरीय अलौकिक गुण अवश्य होने चाहिएं; किन्तु उनकी रक्षा और उनका विकास होने के लिए उनके अनुकूल परिस्थिति की भी आवश्यकता रहती है। माता जिजाबाई शिवाजी महाराज के मन में सदुपदेश रूपी अमृत का सिंचन सदैव ही किया करती थीं। उस समय देश भर में गोब्राह्मणों को कष्ट देनेवाले और हिंदू-धर्म को पददलित करनेवाले यवनों के विरुद्ध वे सदैव ही शिवाजी महाराज के मन को भड़काया करती थीं। उनका उपदेश था कि जब तक स्वराज्य की स्थापना न हो जायगी, यह धर्मग्लानि मिट नहीं

सकती। महाराज स्वाभाविक ही बड़े तेजस्वी पुरुष थे, उसमें भी महासाध्वी माता जिजाबाई सदैव उन्हें इस प्रकार का प्रखर उपदेश दिया करती थीं। फिर क्या पूछना है? महाराज के मन में हिन्दू-राज्य स्थापना की प्रबल महत्वाकांक्षा उत्पन्न होगई। सच है, जिजाबाई के समान परम सात्विक, भावुक, स्वाभिमानिनी और वीर माता जब शिवाजी महाराज के समान मातृभक्त और बुद्धिमान पुरुष को सौभाग्य से प्राप्त होगई, तब उसके अत्यन्त प्रेमपूर्ण उपदेश का वैसा उत्तम प्रभाव स्वाभाविक ही उनके चित्त पर पड़ा, और उनके हाथ से ऐसे-ऐसे अलौकिक, देशोद्धारक प्रयत्न हुए कि जिनको देखकर आज भी संसार चकित हो रहा है।

माता यदि दुर्गुणी होती है, तो दुर्गुण की ही घूंटी मनुष्य को लड़कपन में पिलाती रहती है। ऐसी दशा में उस लड़के का दुराचरणी निकलना स्वाभाविक है। फिर भी सभ्य और सुसंगठित समाज में दुर्गुणी माताएं बहुत कम पाई जाती हैं, और अपने लड़के को जान-बूझकर कुमार्ग में ले जानेवाली माताएं शायद ही कहीं हों। माताओं को यह इच्छा कभी नहीं हो सकती कि हमारा लड़का दुराचारी निकले, और उसकी बदनामी का डंका चारों ओर बजे। सभी चतुर माता-पिता यही चाहते हैं कि हमारा लड़का सद्गुणी बनकर सदाचार से अपनी और अपने कुल की प्रतिष्ठा और इज्जत बढ़ावे। फिर भी, प्रायः माताओं के अज्ञान और अदूरदर्शिता के कारण उनका आचरण लड़कों के लिए हानिकारक सिद्ध होता है। लड़कों की हानि हो—उनका आचरण खराब हो—ऐसी इच्छा उनकी कदापि नहीं रहती, परन्तु अपनी बुद्धिमन्दता के कारण यह बात उनके ध्यान में नहीं आती

कि हमारे किस आचरण का लड़कों के मन पर क्या प्रभाव पड़ेगा; और अन्त में उनकी कैसी हानि होगी ! प्रायः देखा जाता है कि जब कोई लड़का कोई अनुचित कार्य कर बैठता है, तब अकसर बहुत सी माताएं इस बात पर नाराज़गी नहीं प्रकट करतीं, किन्तु उस पर पड़दा डालने का प्रयत्न करती है जिससे वह कार्य प्रकट न हो; और उस पर बहुत शोर-गुल न मचे। लड़के के झूठे प्रेम, अर्थात् मोह, मे अन्धी होकर वे यह सोचती है कि घर के पुरुष लोगों के कानों में कहीं यह बात न जाने पावे, जिससे हमारे लड़के की फजीहत हो, और इस कारण वे उसे छिपाने का प्रयत्न करने लगती हैं ! परन्तु इस छिपाने के प्रयत्न से लड़कों को उच्छृङ्खलता के लिये और अधिक मौका मिल जाता है, जिसका परिणाम अन्त में बुरा होता है । खेद का विषय है कि यह बात माताओं के ध्यान मे नहीं आती। छुटपन मे लड़के स्वाभाविक ही उच्छृङ्खल होते है, उनमें उच्छृङ्खलता की अनेक बातें पाई जाती है—जिसका अनुभव प्रत्येक गृहस्थ को होगा। उन उच्छृङ्खलता की बातों को उसी दम रोकना चाहिये, अन्यथा आगे चलकर बहुत प्रयत्न करने पर भी कोई लाभ नहीं होता। परन्तु जैसा कि हमने ऊपर कहा, माता पिता के अन्धप्रेम और लापरवाही के कारण उनकी उच्छृ-ङ्खलता पर पड़दा ही पड़ता रहता है, जिसका परिणाम अन्त में लड़कों के लिए अत्यन्त हानिकारक होता है । संस्कृत मे कहा है कि लाड़-प्यार से अनेक दोष उत्पन्न होते है, और ताड़ना से अनेक गुण, इसलिये शिष्य और सन्तान का लाड़-प्यार बहुत समझ बूझकर करना चाहिये । यह देखते रहना चाहिये कि मोहान्धता के कारण कहीं लड़कों के दुर्गुणों

की ओर हमारा दुर्लक्ष तो नहीं होता। प्रेम और लाड़ वहीं तक करना चाहिये कि जहां तक लड़कों में दुर्गुण न आने पावें। रोग चाहे हलका ही हो, फिर भी वह रोग ही है, उसको शरीर में वसने देना ठीक नहीं, तत्काल ही उपाय करके उसकी जड़ नाश करने का प्रयत्न करना चाहिये, अन्यथा वह बढ़ जायगा। व्यवहार मे अनेक ऐसे मौके आते हैं कि लड़कों की उच्छृङ्खलता तथा उनके उपद्रवी वर्ताव पर उनको थोड़ा बहुत डांटना पड़ता है। देखी अनदेखी करने से हानि होती है। परन्तु जब उनके दुर्गुण ही नहीं मालूम होने पाते, तब उनको डांटने का मौका नहीं मिलता: और यदि मौका भी मिला, तो जब कि लड़का यह समझता है कि माता हमारे पक्ष में है, तब वह मामूली डांट की परवा भी नहीं करता। यह दशा अनिष्ट है। माता के स्वाभाविक प्रेम के साथ ही साथ उसमे एक प्रकार की कठोरता भी चाहिये। शक्कर में सनी हुई क्विनाइन की गोली ज्वर को दूर करती है। प्रेम के साथ-साथ दूरदर्शितापूर्ण डांट भी लड़के के साथ दिखाना चाहिए, तभी लाभ हो सकता है। मां-बाप के व्यर्थ लाड़प्यार और अनिष्ट लापरवाही के कारण बहुत लड़के बरबाद हो जाते हैं। इसका थोड़ा-बहुत प्रमाण घर-घर में मिलेगा।

कुटुम्ब के लोगों के साथ प्रेम से वर्ताव करने का तरीका लड़कों को सिखाना चाहिये। माता-पिता इत्यादि बड़ों के प्रति भक्तिभाव तथा भाई-बहन इत्यादि के प्रति प्रेम-भाव का महत्व लड़कों के कोमल मन पर अंकित कर देना चाहिये। ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि लड़कों के हृदय में सब लोगों के प्रति सहानुभूति और प्रेम के भाव उत्पन्न हो जांय। परमेश्वर

ने कुटुम्ब के सब लोगों का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध जोड़ दिया है; और एक ही रक्त-मांस के सभी पिंड बने होते है, अतएव उन सब मे एक प्रकार की आत्मीयता हो जाती है। ऐसी दशा में उन सब का पारस्परिक प्रेम यदि बढ़ता जायगा, तो परमेश्वर का उद्देश और उसकी इच्छा सविशेष रूप से सिद्ध होगी। लड़कों के मन में यह दृढ़ भावना और श्रद्धा उत्पन्न कर देनी चाहिये कि माता-पिता इत्यादि बड़ों की आज्ञा के अनुसार चलने से हमारा सब प्रकार से कल्याण ही होगा। बड़ों की आज्ञा पालन करने की आदत उनको डलवा देनी चाहिये। इस मातृ-भक्ति, पितृभक्ति और गुरुभक्ति मे सब प्रकार की भक्ति और प्रेम का बीज मौजूद है। देशभक्ति, स्वामिभक्ति, ईश्वरभक्ति, इत्यादि सब प्रकार के उच्च भावों के पाठ लड़कों को घर में ही सिखलाये जा सकते हैं। जो मां बाप की ही परवा न करेगा, वह और किसकी परवा करेगा? जिसका हृदय मातृप्रेम और पितृप्रेम से पूरित नहीं होता, उसके हृदय में ईश्वरभक्ति की लहर क्या कभी उत्पन्न हो सकती है? भक्ति और प्रेम की उच्च भावना के संस्कार यदि घर मे ही उत्पन्न नहीं हुए, तो फिर आगे वे कब और कहां उत्पन्न होंगे? देश के कल्याण के लिये मौक़ा आ जाने पर प्राण भी अर्पण करना श्रेष्ठ नागरिकों का लक्षण है, परन्तु हृदय मे उज्ज्वल प्रेम उत्पन्न हुए बिना यह श्रेष्ठ भावना कहां से उत्पन्न होगी? इतने उच्च आदर्श की प्रेम-वृत्ति एकदम कैसे उत्पन्न होगी? इस प्रकार के उन्नत स्वरूप की भक्ति की घूँटी घर मे ही पिलानी पड़ती है। जितने श्रेष्ठ और प्रसिद्ध महापुरुष इस संसार मे होगये है उनके हृदय में उज्ज्वल भक्ति का अंकुर पहले पहल घर में ही उत्पन्न हुआ

था। शिवाजी महाराज की मातृभक्ति प्रसिद्ध ही है। महारा
शिवाजी अपनी माता साध्वी जिजावाई के वचन सदैव
अत्यन्त वन्दनीय और अनुल्लंघनीय मानते थे। वे जब क
किसी महत्वपूर्ण कार्य का प्रारम्भ क ते, तब पहले अप
परम पूज्य माताजी का आशीर्वाद ले लेते थे। जिस पुरुष
इतना विशुद्ध प्रेम और उत्कट भक्ति है, उसे सफलता क्यों
प्राप्त हो? घर में ही भक्ति और प्रेम का बीज मन मे एक बा
उग आने पर मानों नैतिक उन्नति की बुनियाद ही कायम ह
जाती है। बच्चे का मन जब छुटपन मे ही नीरस और प्रे
रहित बना रहेगा तब आगे चलकर प्रेमप्रचुर मनोवृत्ति, ज
प्रत्येक सत्कार्य के लिये आवश्यक है, उसमे कैसे उत्प
होगी? घर के अपने लोगों पर जिनका प्रेम नहीं है, उनके
विषय मे जिनका हृदय द्रवीभूत नहीं होता, उनके दुःख प
जिनके हृदय में पीड़ा नहीं होती; उनके द्वारा दूसरों क
अर्थात् समाज अथवा देश का कल्याण क्या हो सकता है
अपने इष्टमित्र और कुटुम्बियों के विषय में आदर न रखते
हुए जो लोग सार्वजनिक कल्याण करने—देशसेवा करने—
का नाटक दिखलाते है, उनके कार्य पर कहां तक विश्वास
किया जा सकता है; यह कहना कठिन है। मतलब यह है कि
निष्कलंक, शुद्ध और उज्ज्वल प्रेमांकुर का प्रादुर्भाव घर में ही
होना चाहिये, उसी प्रेमांकुर का आगे चलकर वृक्ष बन जाता
है, जो अपनी शीतल छाया से लोगों के सन्ताप शमन करता
है। अँगरेज़ी में कहावत है—

"Charity begines at home"

"पुण्य घर से शुरू होता है"—यह बिलकुल ठीक है।
घर में लड़कों के हृदय पर जब प्रेम के ऊंचे संस्कार होने

लगते हैं, तब उनकी नैतिक उन्नति होने में विलम्ब नहीं लगता। मानवी हृदय की दशा यह है कि, एक बार जब उस पर उत्तम संस्कार होने लगते है, तब फिर उसकी अवनति नहीं होती, उन्नति ही होती जाती है; क्योंकि जब हृदय पवित्र और उच्च प्रेम से व्याप्त होने लगता है, तब फिर उसमे अनीति-प्रवर्तक विकारों की प्रबलता नहीं होने पाती। जहां सच्चा प्रेम है, वहां द्वेष के समान कुविचारों को स्थान कैसे मिल सकता है? परस्पर भाई-बहन यदि छुटपन में प्रेम से रहकर पारस्परिक स्नेह की वृद्धि करते रहें, तो बड़े होने पर भी कभी उनमें लड़ाई-झगड़े की नौबत न आने पावेगी। किन्तु समाज में प्रायः इस विषय में बहुत ही शोचनीय दशा दिखाई देती है। सगे भाइयों में ही परस्पर कट्टर शत्रुता पाई जाती है। एक-दूसरे को देखकर मानो निगल जाना चाहते हैं! कभी-कभी तो वे एक-दूसरे को मार डालने तक को तैयार हो जाते हैं। एक खून के मानवी प्राणी इस प्रकार के कलंकपूर्ण कार्य करने को तैयार हों—इससे अधिक और क्या शोचनीय दशा हो सकती है? इतिहास मे भाई-भाई का, पिता-पुत्र का वध करने के अनेक उदाहरण पाये जाते है! यदि छुटपन से ही इन सब के मन में परस्पर प्रेम-भाव उत्पन्न हो गया होता, तो यह गति न हुई होती। क्योंकि जिस हृदय में शुद्ध और पवित्र प्रेम उत्पन्न हो जाता है, उसमें ऐसे नीच कार्य करने की प्रवृत्ति ही उत्पन्न नहीं होती। जिस हृदय मे पवित्र प्रेम और सहानुभूति का वास नहीं होता, उसमें नाना प्रकार की पाप-वासना और स्वार्थभावों का प्रवेश हो जाता है। मानवी हृदय की सत्ता जब शुद्ध और पवित्र प्रेम के हाथ में रहती है तब स्वार्थ के समान द्रोही विचारों की वहां बिल्कुल ही दाल नहीं गलने

पाती। परन्तु जो हृदय नीरस और प्रेमरहित है, उसमें स्वार्थ अपना प्रभाव अवश्य जमा लेता है, और परिणाम में बन्धु-द्रोह और पितृद्रोह के समान घोर पातक होने लगते हैं। इस लिए घर के माता-पिता इत्यादि बड़ों को बालकों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का यथातथ्य पर्यालोचन करके उनको यथोचित मार्ग पर लाने का प्रयत्न करना चाहिए। उनके बच्चों के छोटे-से-छोटे व्यवहार से लेकर बड़े-से-बड़े व्यवहार तक तीव्र दृष्टि रखनी चाहिए। स्वार्थ-भाव स्वाभाविक हो प्रत्येक बच्चे में थोड़ा-बहुत होता है। इस स्वाभाविक स्वार्थभाव में मर्यादित प्रतिबन्ध रखना चाहिए, और इस प्रकार की सावधानी सदैव रखनी चाहिए कि बालकों का पारस्परिक प्रेम और सहानुभूति सदैव बढ़ती रहे, कभी प्रेम से, कभी डांट से, कभी क्रोध दिखलाकर और कभी कुछ उपदेश देकर साम, दाम, दण्ड, भेद सब उपायों से बच्चों को सदैव सुमार्ग पर लाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। इस महत्वपूर्ण कार्य में कभी लापरवाही या प्रमाद को स्थान न देना चाहिए। स्वार्थरूपी सर्प के छौने का बच्चों के मनरूपी बिल में जहां थोड़ा सा भी प्रवेश हो गया कि फिर उससे बड़ा भारी विषैला सर्प बनते देर न लगेगी।

घर के लोगों के प्रत्यक्ष आचरण देखकर बच्चों के मन पर बुरा-भला नैतिक परिणाम बहुत जल्द और स्थायीरूप से हुआ करता है। यह बात कुटुम्ब के प्रौढ़ लोगों को अच्छी तरह ध्यान में रखनी चाहिए। सौ बार का दिया हुआ सदुपदेश शायद बच्चों के मन पर प्रभाव न डालेगा; परन्तु एक बार का किया हुआ सदाचरण का बर्ताव उनके मन पर बहुत जल्द अपना प्रभाव जमा लेगा। कहा भी है:—

"Example is better then precept"

अर्थात् "उपदेश करने की अपेक्षा प्रत्यक्ष आचरण का प्रभाव अच्छा पड़ता है।" यह बिलकुल सच है। कोरे उपदेश की कीमत छोटे-छोटे बच्चे भी तुरन्त ही जान लेते हैं! क्या आप नहीं देखते हैं कि एक ओर भाई बहन को प्रेम के साथ चलने का उपदेश दिया जाता है, और दूसरी ओर घर के समझदार लोग ही परस्पर मे झगड़ा-बखेड़ा किया करते हैं? ऐसी दशा में उस झगड़े-बखेड़े के प्रत्यक्ष आदर्श के सामने कोरे उपदेश का क्या प्रभाव पड़ सकता है? फलतः वह उपदेश बिलकुल व्यर्थ हो जाता है। सास-बहू का झगड़ा, देवर-भौजाई का झगड़ा, भाई-भाई का झगड़ा सदैव घरों में मचा रहता है। अब बतलाइये, बच्चे इन झगड़ों से क्या शिक्षा ग्रहण करेंगे? अवश्य ही इन झगड़ों से वे झगड़ा करना ही सीखेंगे। अस्तु। कुटुम्ब के समझदार लोगों को बच्चों के साथ सदैव प्रेम और निष्पक्षपात का बर्ताव करना चाहिये; क्योंकि पक्षपात से लड़कों के मन में मत्सरभाव पैदा हो जाता है; और पारस्परिक प्रेम तथा सहानुभूति का सर्वथा अभाव हो जाता है। लड़कों में जब परस्पर मत्सरभाव बढ़ने लगता है, तब कुटुम्ब के बड़े लोगों पर भी इसका असर कभी कभी जा पहुँचता है; और अन्त में कौटुम्बिक प्रेम और एकता का भाव नष्ट होकर उसकी जगह कलह और वैमनस्य बढ़ जाता है। मतलब यह है कि कुटुम्ब के बड़े लोगों का आचरण उच्च, उदार, निष्पक्षपात, स्वार्थरहित और शुद्ध सरल प्रेमयुक्त होना चाहिये। इसमें यदि कुछ भी अन्तर पड़ जाता है, तो उसका प्रभाव लड़कों पर बहुत ही बुरा पड़ता है। समदृष्टि और प्रेम नष्ट हो जाता है; और उनमें नैतिक अवनति का

प्रारम्भ वहीं से हो जाता है। घर शान्ति, प्रेम, समता, सहानुभूति, उदारता, इत्यादि सद्गुणों का वासस्थान होना चाहिए। वायुमंडल में जब कि प्राणवायु और अन्य वायु उचित परिमाण से मिली रहती हैं, तभी तो वायुमण्डल की शुद्धता और स्वच्छता स्थिर रहती है; और वह सबके लिए सुखकारक होता है; परन्तु जब उन वायुओं का परिमाण बिगड़ जाता है, तब वायुमण्डल दूषित बनकर हानिकारक हो जाता है। बस, इसी भांति घर के नैतिक वायुमण्डल में जब तक प्रेम और समता का साम्राज्य रहता है, तब तक नैतिक शुद्धता स्थिर रहती है, अन्यथा सदाचार और नीति का ह्रास होने लगता है।

घर के प्रौढ़ मनुष्यों के आचरण की ओर—विशेषकर मा-बाप के आचरण की ओर—बच्चों का ध्यान विशेष रहता है, और उनका अनुकरण वे स्वाभाविक ही किया करते हैं; इसलिए मां-बाप को परस्पर, और अन्य लोगों के साथ, बहुत ही उत्तम बर्ताव करना चाहिए। पति और पत्नी का पारस्परिक व्यवहार प्रेम, आदर और मर्यादा से युक्त होना चहिए। संस्कृत के प्रसिद्ध कवि भवभूति ने अपने "उत्तर-रामचरित" नाटक में पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्ध का बहुत ही मार्मिकता के साथ वर्णन किया है:—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु या।
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः॥
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थितम्।
भद्रं प्रेम सुमानुपस्य कथमप्येकं हि तत् प्राप्यते॥

अर्थात् "एक का जो सुख है; वही दूसरे का सुख है, और एक का जो दुःख है वही दूसरे का दुख है। प्रत्येक दशा मे और प्रत्येक अवस्था में परस्पर का प्रेम कभी न्यून नहीं होता, दिन दिन दृढ़ होता जाता है, जिससे चित्त को सदैव विश्राम और आनन्द मिलता है। इस प्रकार प्रेम से बँधे हुए दम्पति सचमुच ही बड़े भाग्यशाली है!" बस, स्त्री-पुरुष का वर्ताव ऐसा ही चाहिये। स्त्री और पुरुष का संबंध ईश्वर ने बड़े चातुर्य के साथ नियोजित किया है। इस परमेश्वर-निर्मित पवित्रता के अनुसार यदि पति-पत्नी का वर्ताव होगा, तो बच्चे भी उसी के अनुसार चलेंगे; और उनकी स्वाभाविक अनुकरण-प्रवृत्ति के कारण माता-पिता के उत्कृष्ट गुण उनमें भी उतर आवेंगे। परन्तु कभी कभी अज्ञानता, अनजानपन अथवा भ्रम के कारण पति-पत्नी के परस्पर वर्ताव में अनुदारता दिखलाई पड़ती है। मां-बाप का इस प्रकार का वर्ताव जब लड़के देखते हैं, तब उनके कोमल मन पर नैतिक दृष्टि से बहुत ही हानिकारक प्रभाव पड़ता है। मां-बाप के हृदय का प्रेम-स्रोत बन्द होकर जब उनका हृदय बिलकुल शुष्क पड़ जाता है, तब फिर लड़कों के हृदय में ही प्रेम का रस कहां से आ सकता है?

परमेश्वर ने सन्तानरूपी अत्यन्त मूल्यवान धरोहर मां बाप के सिपुर्द की है। प्रमाद और लापरवाही न करते हुए उनको इस धरोहर की रक्षा बहुत ही सावधानी के साथ करनी चाहिए। घर के माता-पिता आदि प्रौढ़ लोगों का अपने सदुपदेश और सदाचार से लड़कों के सदाचार और नीति की यथोचित वृद्धि करनी चाहिए। पौढ़ कुटुम्बियों के असदाचार के कारण न केवल उन्हीं की हानि होती है, किंतु बच्चों के मन

पर बुरा प्रभाव पड़ता है, और इस प्रकार समाज की भी हानि होती है। दूरदर्शिता के साथ घर के प्रौढ़ लोग यदि प्रत्येक मौके पर अत्यन्त सावधानी के साथ वर्ताव किया करें, तो समाज की नैतिक उन्नति करने का श्रेय उनको प्राप्त हो; सब का कल्याण हो; और ईश्वर की जैसी इच्छा है कि मनुष्य अपना उच्च कर्तव्य करे, तदनुसार कर्तव्य करने का महत्पुण्य उसको प्राप्त हो।

तीसरा प्रकरण

सदाचार और शिक्षा

पिछले प्रकरण मे यह बतलाया गया है कि बाल्यावस्था में मनुष्य की विचारशक्ति जागृत और प्रगल्भ अवस्था में नहीं होती, अतएव लड़कों के चरित्रगठन का कार्य प्रायः माता-पिता के ही अधीन रहता है। नीतिशिक्षा के लिये बाल्यावस्था का समय मनुष्य के जीवन का अत्यन्त महत्वपूर्ण समय है। परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि मनुष्य के चरित्र-गठन की सम्पूर्णता बाल्यावस्था के समय में ही हो जाती है। नहीं, नैतिक उन्नति के उच्च शिखर पर जा पहुँचने के लिये बहुत समय की आवश्यकता होती है। सृष्टि के जड़ पदार्थों के गुणधर्म का ज्ञान प्राप्त करना बहुत कठिन है; सृष्टि के चमत्कारों का एक कूटक हम हल नहीं करने पाते कि दूसरा हमारे सामने तुरन्त आकर खड़ा हो जाता है। इन तमाम कूटकों को हल करने के लिए मनुष्य का एक जीवन कदापि पर्याप्त नहीं हो सकता। नीतिशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् चाणक्य मुनि ने कहा है:—

अनन्तशास्त्रं बहुलाश्च विद्या ह्यल्पश्च कालो बहुविघ्नता च।
यत्सारभूतं तदुपासनीयं हंसैर्यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्॥

'अर्थात् "शास्त्र अनन्त है, विद्या का पारावार नहीं है, समय बहुत थोड़ा है, विघ्न अनेक है। ऐसी दशा में जो सारभूत है, वही उपासनीय है। जैसे हंस पानी से दूध निकाल लेता है।" यह कथन बिलकुल सत्य है। परमेश्वर-निर्मित सृष्टि के चमत्कारों का उद्‌घाटन करके उनका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना मानवी बुद्धि के लिए बहुत कठिन है। इसी प्रकार अन्तर्सृष्टि का अथवा सूक्ष्म कल्पनामय जगत् का, यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके, तदनुसार आचरण करना भी बहुत कठिन है। जब ऐसी दशा है, तब नैतिक उन्नति की उच्च सीढ़ी पर एकदम अनायास कैसे जा सकते है? घर मे बाल्यावस्था में मन पर जो संस्कार होते हैं, उनको साथ लेकर मनुष्य प्रौढ़ावस्था में प्रवेश करता है, उस समय उसकी विचारशक्ति जागृत होकर प्रगल्भ होने लगती है। फिर उसे दूसरे की सहायता की आवश्यकता कम रह जाती है। पहले मुकाम की सब नैतिक निर्वाहसामग्री लेकर अब इसके आगे का मार्ग चलना है। बालक माता का दूध पीता है, सो इसलिए नहीं कि वह उसके मिठास को जानता है। नहीं, मिठास का ज्ञान उसे कुछ भी नहीं रहता, सिर्फ़ स्वाभाविक रूप से पीता है, इसी भांति बाल्यावस्था में बच्चे के मन पर जो बुरे-भले संस्कार होते हैं, वे भी आप ही आप, उसको मालूम न होते हुए, स्वाभाविक रूप से होते रहते हैं। विचारशक्ति चूंकि उनकी निद्रितावस्था में होती है, अतएव आंखों से जो कुछ वे देखते है, अथवा कानों से जो कुछ वे सुनते हैं, उसकी प्रतिमा उनके मन पर प्रतिबिम्बित होती रहती है। इस अवस्था के आगे की अवस्था मे लड़कों के विचारों को, जो कि जागृत हो जाते है, ठीक मार्ग में लगाना होता है। यह

काम, उनकी शक्ति के अनुसार, उनको उचित शिक्षा देकर करना पड़ता है। मतलब यह है कि बाल्यावस्था समाप्त करके मनुष्य जब प्रौढ़ावस्था में प्रवेश करता है तब उसकी शिक्षा का आरम्भ होता है। लड़के की बुद्धि, जो उस समय जागृत होती है, उसका विकास प्रौढ़ावस्था में ही किया जाता है। जैसे फूल की कली प्रभात में सूर्य की किरणों से खिलती है, उसी भांति बुद्धि और हृदय का विकास शिक्षा के योग से होता है। उत्तम कारीगर अपने कौशल से पाषाण के टुकड़े की एक उत्तम मूर्ति तैयार कर देता है, पाषाणखण्ड की इधर-उधर की निकली हुई नोकें तराशकर उससे सुन्दर पुतला निकाल लेता है। इसी भाँति मानवी बुद्धि और हृदय के दोषों को निकालकर, उनको शुद्ध, निर्दोष और निष्कलंक बनाने का पवित्र काम शिक्षा का है।

अच्छा, अब इस बात का विचार करना चाहिये कि शिक्षा का मनुष्य की नीति से कहाँ तक सम्बन्ध पहुँचता है, और उसका मनुष्य के चरित्र अथवा सदाचार पर क्या प्रभाव पड़ता है।

स्थूल दृष्टि से विचार करने पर जान पड़ता है कि, शिक्षा मुख्यतया दो प्रकार की है। मान लीजिए, शरीर के मुख्य भाग दो हैं। ऐसी दशा में उन दोनों भागों की उपयोगिता बढ़ानेवाली शिक्षा भी दो ही प्रकार की होनी चाहिये। ये मुख्य दो भाग शरीर और मन हैं, अतएव इन भागों की ठीक-ठीक वृद्धि करके उनकी उपयोगिता बढ़ानेवाली शिक्षा भी दो प्रकार की हुई। एक शारीरिक शिक्षा और दूसरी मानसिक शिक्षा। इसी प्रकार मनुष्य के मन के भी स्थूल रीति से दो भाग, अर्थात् बुद्धि

और हृदय, माने जा सकते हैं। इसलिए बुद्धि की वृद्धि करके उसको उन्नत करनेवाली शिक्षा बुद्धि-विषयक अथवा बौद्धिक शिक्षा कही जायगी, और हृदय की वृत्तियों को यिकास करके उनकी उन्नति करनेवाली शिक्षा को नैतिक शिक्षा कहेंगे। इस दृष्टि से विचार करने पर शिक्षा के तीन भेद हो जाते हैं—(१) शारीरिक शिक्षा, (२) बौद्धिक शिक्षा और (३) नैतिक शिक्षा। अब पहले शारीरिक शिक्षा का विचार करेंगे। महाकवि कालिदास ने कहा है किः—

शरीरमाद्यं खलुधर्मसाधनम्।

अर्थात् शरीर ही से सम्पूर्ण धर्म सधते हैं। इसी भांति अँगरेज़ी में भी कहावत है किः

"Sound mind in a saund body"

अर्थात् "एक सुदृढ़ शरीर में ही एक सुदृढ़ मन भी रह सकता है। ये कथन सर्वथा सत्य हैं। संसार में हम प्रतिदिन देखा ही करते हैं कि जो मनुष्य निर्बल और कमज़ोर होते हैं, वे चिड़चिड़े अस्थिर और डरपोंक होते हैं। कारण स्पष्ट है—शरीर का मन पर अवश्य ही प्रभाव पड़ता है। शरीर जब स्वस्थ और सुदृढ़ होता है, तब मन भी निर्भय, आनन्दयुक्त, उत्साहपूर्ण, प्रबल और स्थिर होता है; और शरीर जब रोगी तथा निर्बल होता है, तब मन भी आलसी, डरपोंक और निर्बल बन जाता है। इसलिए समाज और राष्ट्र की यदि उन्नति करनी है, यदि समाज और देश को कार्यक्षम और ज़ोरदार बनाने की इच्छा है, तो शरीर, जोकि कर्त्तव्य-साधन का एक महत्वपूर्ण अंग है, को सुदृढ़ और आरोग्य बनाने का प्रयत्न पहले करना चाहिए।

छुटपन से ही लड़कों के शरीर की ओर विशेष ध्यान रख कर उनको बलवान बनाना चाहिए। शारीरिक व्यायाम लड़कों से अवश्य कराना चाहिये। शरीर की पूर्ण वृद्धि करने, उसको सुदृढ़ और हट्टा-कट्टा बनाने के लिए व्यायाम की बड़ी आवश्यकता है। शास्त्र में व्यायाम के लाभ इस प्रकार बतलाये गये हैं :—

लाघवं कर्मसामर्थ्यं स्थैर्यं क्लेशसहिष्णुता ।
दोषक्षयोऽग्निवृद्धिश्च व्यायामादुपजायते ॥

अर्थात् "व्यायाम से फुर्ती, काम करने की ताकत, स्थिरता, कष्ट सहने की शक्ति प्राप्त होती है, शारीरिक और मानसिक दोषों का क्षय होता है, और भोजन खूब पचता है। ये व्यायाम से बहुत बड़े-बड़े लाभ हैं, जिनको हमारे जीवन में अत्यन्त आवश्यकता है। व्यायाम के साथ-साथ शारीरिक बल प्राप्त करने के लिए उत्तम पुष्टिकारक भोजन की भी बहुत आवश्यकता है।

शारीरिक शिक्षा के विषय में प्रायः हमारे देश में बहुत ही उदासीनता दिखाई देती है। हमारे यहां के लोग यह बिलकुल ही नहीं समझते कि शारीरिक शिक्षा, शिक्षा का एक महत्वपूर्ण अङ्ग है। लड़के को सब परीक्षाओं में बराबर उत्तीर्ण होता हुआ देखकर मां बाप को आनन्द होना एक स्वाभाविक बात है; परन्तु साथ ही लड़के की शारीरिक शिक्षा की ओर बिलकुल ही ध्यान न देना अत्यन्त खेद की बात है। शरीर के विषय में इस प्रकार की लापरवाही राष्ट्रीय दृष्टि से बिलकुल अक्षम्य है। भावी सन्तान के लिए तो वह और भी अधिक हानिकारक है।

शरीर जब निर्बल होता है, तब मन ठीक-ठीक काम, नहीं करता। उसकी स्थिरता नष्ट हो जाती है। निर्बलता के कारण मन में नाना प्रकार के क्षणिक विचार उठा करते हैं, उन विचारों को साधने की शक्ति जाती रहती है। किसी एक भी विचार को पकड़कर उसको पूर्ण करने का साहस नहीं होता, और न शक्ति ही होती है। मन सब प्रकार शिथिल हो जाता है। किसी भी सत्कार्य के करने में जिस मानसिक बल और जिस मानसिक उत्साह की आवश्यकता होती है, वह मनुष्य में नहीं रहता। परन्तु शरीर यदि सुदृढ़ और बलवान होता है तो मन उत्साहित और शक्तिशाली बना रहता है; और प्रत्येक सत्कार्य के करने का साहस तथा सामर्थ्य बना रहता है। ग्रीस देश में स्पार्टा नामक एक प्रान्त है। वहां पूर्वकाल में लायकरगस नामक एक अधिकारी कायदे-कानून का प्रसिद्ध रचयिता हो गया है। प्रजा को सुदृढ़ रखने के लिए वह बड़े-बड़े कठोर कानून और नियम बनाता तथा बड़ी सख्ती के साथ उनका पालन कराता था। बहुत दिन तक उन कठोर नियमों पर प्रजा चलती रही, अतएव स्पार्टा की प्रजा खूब सुदृढ़ हो गई; और आगे चलकर स्पार्टन लोग कितने पराक्रमी बन गये; और स्पार्टा की सेना पराक्रम और शूरता के विषय में कैसी प्रसिद्ध हो गई, सो ग्रीस के इतिहास से भली भांति मालूम होता है*। स्पार्टा की स्त्रियां भी, लड़ाई पर जाते समय, अपने लड़कों को यह उत्साह-वर्धक और स्फूर्ति-कारक उपदेश दिया करती थीं कि, लड़ाई में पीठ दिखला

*यह इतिहास "तरुण-भारत-ग्रन्थावली" में निकल चुका है।

कर मत लौटना ; लड़ते-लड़ते, मौका आ जाय तो, अपने देश और जाति के लिए प्राण समर्पित करना, परन्तु पराजय से मुह काला करके घर न लौटना ! देखिये स्त्रियों का हृदय अत्यन्त कोमल होता है, और वे डरपोंक भी समझी जाती है ! फिर भी शारीरिक शक्ति के कारण वे कैसी निर्भय बन जाती है ! शारीरिक जोश के कारण मन भी कैसा प्रबल और कार्यक्षम बन जाता है, इसका यह एक उत्तम उदाहरण है। प्रत्येक सत्कार्य को पूर्ण करने के लिए जिस सामग्री की आवश्यकता होती है, उसकी तैयारी शरीर के सुदृढ़ हुए बिना नहीं हो सकती। यह एक सामान्य सिद्धान्त है। सम्भव है, किसी पुरुषश्रेष्ठ की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ नीति की दृष्टि से बहुत उच्च श्रेणी की हों, और इस कारण शारीरिक निर्बलता उसके लिए विशेष रूप से बाधक न होती हो, ऐसा हो सकता है, परन्तु, फिर भी, इस अपवाद से, उपर्युक्त सामान्य सिद्धान्त की सत्यता नष्ट नहीं होती। तपे हुए डब्बे की यदि शीतल चन्द्रकान्त मणि रक्खा जाय, तो उस डब्बे में थोड़ी-बहुत आँच उस मणि में अवश्य ही लगेगी। इसी भाँति निर्बलता के कारण जिसका मस्तक क्षीण हो चुका है, और जो बहुत जल्द गरम हो उठता है उसमे स्थिरता, शीतलता और शान्ति इत्यादि, जो कि सत्कार्य के लिए उपयोगी गुण हैं, वे कैसे रह सकते है ?

जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, दूसरे प्रकार की शिक्षा मानसिक शिक्षा है, जिसके दो प्रकार ऊपर बतलाये गये है, (१) बौद्धिक शिक्षा, और (२) नैतिक शिक्षा। शारीरिक शिक्षा का नैतिक वृत्तियों से क्या सम्बन्ध है, सो थोड़े में ऊपर बतलाया है। अब यह देखना चाहिए कि, मानसिक शिक्षा के प्रथम

अंग, अर्थात् बौद्धिक शिक्षा का नैतिक वृत्तियों से क्या सम्बन्ध है।

जिस शिक्षा के द्वारा मनुष्य की बुद्धि तीक्ष्ण होती है; विचार-शक्ति बढ़ती है; सत्यान्वेषण करने की विचार-प्रणाली और उसके नियमों का ज्ञान होता है, वस्तुओं के कार्य-कारण-भावों के जांचने की शक्ति बढ़ती है; विचारों की चंचलता नष्ट होकर गम्भीरता-पूर्वक विचार करने की आदत पड़ती है—ऐसी सम्पूर्ण शिक्षा का अन्तर्भाव बुद्धि-विषयक शिक्षा में हो जाता है। सारांश यह है कि भिन्न भिन्न विषयों का परिशीलन करते हुए जिस शिक्षा के द्वारा बुद्धि में प्रखरता आवे, और विचार-प्रणाली शुद्ध तथा निर्दोष बने, वही बुद्धि-विषयक शिक्षा है।

प्रत्येक बात का अचूक और सांगोपांग विचार करने की शक्ति और आदत, अशिक्षित मनुष्यों की अपेक्षा सुशिक्षित मनुष्य में साधारणतः विशेष होती है। अनाड़ी और अशिक्षित मनुष्य की दृष्टि संकुचित होती है, और विचारशक्ति मन्द होती है। सुशिक्षित मनुष्य प्रायः निराधार सिद्धान्त, केवल अपनी वाचालता में आकर, प्रकट नहीं कर सकता। बहुत सोच-समझकर, सत्यशोधन की सामग्री एकत्र करके, उससे सरल और जितना अचूक सिद्धान्त वह निकाल सकेगा उतना ही प्रकट करेगा। इसी प्रकार से विचार करने की उसकी आदत पड़ जाती है, और इस कारण उसकी बौद्धिक शक्ति बढ़ती जाती है। किसी विषय का भी ज्यों ज्यों उसे व्यवस्थित और उपपत्ति-सहित ज्ञान होता जाता है, त्यों त्यों उसकी उस विषय में ही गति होती जाती है, यही

नहीं, वल्कि उसकी बुद्धि का विकास होता जाता है, और उसकी बौद्धिक शक्ति बढ़ती जाती है।

सुशिक्षित मनुष्य की बुद्धि, जैसा कि हमने ऊपर बतलाया, एक खास तरफ़ को झुक जाती है; और इस कारण नीतिशास्त्र के इन साधारण सिद्धान्तों का रहस्य उसे भली भाँति मालूम होने लगता है कि, मनुष्य को मनुष्य के साथ बर्ताव कैसा करना चाहिए, सद्‌गुण क्या हैं, दुर्गुण कौन से हैं, अनीति के बर्ताव से क्या हानि होती है, इत्यादि, इत्यादि। फलतः साधारण तौर से उसके विचार और आचार में कल्याणकारक अन्तर पड़ने लगता है। प्रत्येक सुसंगठित समाज में नीति-विषयक सिद्धान्त प्रचलित होते हैं; और उनका ज्ञान उस समाज के समझदार लोगों को होता ही है। समाज के प्रचलित नीतिविषयक विचारों में ही चूँकि प्रत्येक मनुष्य छोटे से बड़ा होता है, अतएव उसके मन पर उनका प्रभाव भी पड़ता रहता है, तथापि शिक्षा के द्वारा इन प्रचलित विचारों का यथोचित ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति आती है, और उनका पूर्ण रहस्य और महत्व मालूम होता जाता है। सारांश यह है कि सुशिक्षित मनुष्य को यह भली भाँति मालूम हो जाता है कि, सदाचार कौन सा है, दुराचार कौन सा है, कर्त्तव्य कौन सा है, और उसको ठीक तौर से बजाने के लिए कौन-कौन से सद्‌गुणों की आवश्यकता होती है, इस कारण उसके हृदय पर अनुकूल संस्कारों का प्रभाव होता है, और इसलिए उसके हृदय का विकास होने में सहायता मिलती है।

बौद्धिक संस्कार का प्रभाव उपर्युक्त रीति से मनुष्य के हृदय पर होता है सही, परन्तु फिर भी अकसर देखा जाता

है कि सुशिक्षित मनुष्य भी, सब कुछ जान-बूझकर भी, उसके अनुसार अमल नहीं कर सकता। निस्सन्देह, यह बात सच है कि, साधारण शिक्षा के द्वारा नैतिक सिद्धान्तों का तात्विक और स्पष्ट ज्ञान सुशिक्षित मनुष्य को हो जाता है; परन्तु, फिर भी इससे कुछ पूरा-पूरा काम नहीं चलता।

बुद्धि-विषयक शिक्षा के साथ ही साथ नीति-शिक्षा की भी आवश्यकता रहती है। बुद्धि के विकास के साथ ही साथ सद्वृत्तियों का भी विकास होना चाहिए। अतएव शिक्षा-प्रणाली में नीति-शिक्षा का भी प्रबन्ध अवश्य होना चाहिए। मानवी हृदय के वृत्ति-विकास का कार्य्य बराबर जारी रहना चाहिए अन्तःकरण पर सद्बोधामृत का सिंचन सदैव करते रहना चाहिए। सदाचार से कल्याण और दुराचार से कष्ट मिलता है, इस विषय के पाठ सदैव विद्यार्थियों को पढ़ाते रहना चाहिए; और इसके सिद्धान्त उनके मन पर अच्छी तरह अंकित कर देना चाहिए। क्षुद्र, नीच और हानिकारक कार्यों का निषेध और उच्च तथा श्रेष्ठ कार्यों का विधान सदैव विद्यार्थियों के सामने करते रहना चाहिए। एक बार बुद्धि का विकास करना शायद उतना कठिन काम नहीं है; परन्तु नैतिक वृत्तियों का यथोचित विकास करके उनकी उन्नति करना बहुत ही कठिन है। अतएव, जहां तक हो सके, इस कार्य्य को पूर्ण करने के लिये खूब प्रयत्न होना चाहिए; और इसके लिए शिक्षा-प्रणाली में नैतिक शिक्षा का प्रवेश अवश्य होना चाहिए। स्वर्णकार अपने हथौड़े से खूब ठोंक पीटकर जिस प्रकार सुवर्ण का आभूषण तैयार करता है, उसी भांति हृदय पर सदुपदेश का पूरा-पूरा प्रभाव डालकर उसको शुद्ध और सुन्दर बनाना चाहिये। उसकी अशुद्धता

दूर करके उसका स्वरूप मनोहर और रमणीय बनाना चाहिए। भृङ्गी किसी भी कीड़े को पकड़कर उसके आसपास बराबर घूमकर उसको अपने ही समान बना लेती है। इसी प्रकार अव्याहत रूप से सदुपदेश के द्वारा हृदय की वृत्तियों को उन्नत बनाना चाहिए।

परमेश्वर के अतर्क्य चातुर्य और लीला से बना हुआ यह मानवी हृदय मानों सद्गुणों और दुर्गुणों की एक घड़िया है। इस घड़िया में सद्गुण और दुर्गुण बीजरूप से रहते है। इस घड़िया को शुद्ध करने के लिए इसको शिक्षण-संस्कार-रूपी अग्नि में रखकर दुर्गुणों का बीज भस्म कर देना चाहिए, इससे सद्गुणों का बीज सतेज और शुद्ध हो जायगा। हृदय की शुद्ध और पवित्र सद्गुणज्योति दुर्गुणों के धुएं से आच्छादित होकर धुँधली हो जाती है। इसलिए इस धुएं को दूर करके सद्गुणों की ज्योति को चमकाकर हृदय की वृत्तियों को उन्नत बनाना चाहिए। प्रसिद्ध तत्ववेत्ता बेकन साहब कहते हैं:—

"knowledge proceeds from wonder."

अर्थात् "आश्चर्य से ज्ञाननिष्पत्ति होती है।" किसी बात के विषय में भी जब पहले पहल आश्चर्य मालूम होता है, तभी उस बात का ज्ञान प्राप्त करने की मनुष्य मे उत्कट इच्छा उत्पन्न होती है। यह बात जैसे बुद्धि के विषय मे कही जा सकती है, वैसे ही हृदय के विषय में भी कही जा सकती है। हृदय भी जब आश्चर्य से चकित होता है; और उस पर आश्चर्य के संस्कार होते जाते है, तब वह विकास को प्राप्त होता जाता है। सद्गुणों के विषय मे जब हृदय में आश्चर्य-वृत्ति बढ़ने लगती है, तब हृदय के सद्गुणों की ज्योति अधि-

काधिक तेजस्वी होती जाती है। सद्गुणों के विषय में आश्चर्य-चकित होनेवाला अन्तःकरण जिस प्रकार उन्नत होता जाता है, उसी प्रकार दुर्गुणों के विषय में जब हृदय में घृणा होने लगती है, तब वह दुर्गुणों से दूर होने लगता है। मतलब यह है कि जब सद्गुणों के विषय में आश्चर्य के संस्कार और दुर्गुणों के विषय में घृणा के संस्कार हृदय पर होते जाते हैं तब हृदय की सद्वृत्तियों का विकास होता जाता है; परन्तु ये आश्चर्य और घृणा के संस्कार शिक्षा के द्वारा ही हृदय में उत्पन्न किये जाते हैं। रानी एलिज़ाबेथ के जमाने में स्पेनिश लोगों के साथ ज़टफेन में जो लड़ाई हुई उसमें प्रसिद्ध वीर सर फिलिप सिडने रणभूमि में व्याकुल होकर गिर पड़ा। उस समय उसको बहुत ही तृषार्त जानकर किसी ने जल का प्याला उसके सामने उपस्थित किया; परन्तु जब उसने देखा कि एक और सिपाही उससे अधिक घायल होने के कारण तृषा से व्याकुल हो रहा है, तब उसने वह प्याला उसके आगे बढ़ाकर कहा :—

"Thy need is greater than mine."

अर्थात् "मेरी अपेक्षा तुझको पानी की विशेष आवश्यकता है।" अहा! कैसा आश्चर्यकारक स्वार्थत्याग है! ऐसे स्वार्थत्याग के वृत्तान्त से हृदय मे आश्चर्य की लहर क्यों न उत्पन्न हो? और ऐसी आश्चर्यजनक बातों से यदि हृदय की वृत्तियाँ चकित होकर उन्नत बन जावें, तो इसमें आश्चर्य क्या है? हृदय की सकुची हुई सद्गुणों की कली ऐसे ही आश्चर्यजनक संस्कारों से धीरे-धीरे विकसित होनी चाहिए। इतिहास में स्वामिभक्ति, देशभक्ति, इत्यादि के अनेक आश्चर्यजनक उदाहरण पाये जाते हैं। उनका आदर्श यदि विद्यार्थियों

सम्मुख मनोरंजक रूप से रखा जाय, तो अवश्य ही उनके मन में सद्वृत्तियों का उभाड़ होगा। इस प्रकार की आश्चर्यजनक ऐतिहासिक घटनाओं का स्मरण दिलाकर ही मन के सद्गुणों के अंकुरों की वृद्धि करनी होती है। सद्वृत्तियों का उद्दीपन करनेवाले अवसरों का चित्र जब मन पर भली भाँति अंकित किया जाता है, तब मन में आश्चर्य और प्रसन्नता के उत्तम संस्कार उत्पन्न होते हैं; और वह उन्नत होता है। पूर्व काल मे ग्रीस देश की सत्ता कुछ समय तक ज़ुल्मी लोगों के हाथ में रही थी। उन लोगों ने प्रसिद्ध तत्ववेत्ता और साधु पुरुष साक्रेटीस (सुकरात) पर यह मिथ्या अपराध लगाया कि वह एथेंस के लड़कों को बुरी शिक्षा देकर उनको खराब करता है साक्रेटीस ने अपने को निरपराध बतलाते हुए उनके सामने बहुत कुछ प्रमाण उपस्थित किये; किन्तु कोई फल न हुआ! अन्त में उन दुष्टों ने, जो कि एक प्रकार से उसका नाश करने पर तुले हुए थे, उसको देहान्त दण्ड देने का निश्चय किया! महात्मा साक्रेटीस इस पर बिलकुल नहीं डगमगाया। और जब विष का प्याला पीने के लिए उसको दिया गया; वह आत्मा के अमरत्व पर अपने शिष्यों को उपदेश करते हुए, बड़ी प्रसन्नता के साथ उसको पी गया! इस धैर्य का भी कहीं ठिकाना है! ऐसे अपूर्व अवसर का चित्र यदि विद्यार्थियों के हृदय-पटल पर चातुर्य और मनोरंजन के साथ अंकित किया जाय, तो निस्सन्देह उनका हृदय विशाल और उन्नत हो सकता है। ऐसी नीतिपूर्ण घटनाओं से हृदय की निद्रितावस्था में रहनेवाली धैर्यवृत्ति जागृत हो उठती है; और मन उन्नति की ओर आगे बढ़ता है। इसी प्रकार ऐसे अवसरों का

चित्र भी विद्यार्थियों के हृदय पर अङ्कित करना चाहिए कि जिनसे दुर्गुण और दुराचार के विषय में उनके मन में अत्यन्त घृणा और तिरस्कार उत्पन्न हो हृदय की जिस नैसर्गिक वृत्ति को सद्गुण के विषय में आदर मालूम होता है, उसी वृत्ति को दुर्गुण के विषय मे तिरस्कार भी मालूम होता है। राजा जान ने अपने सगे भतीजे प्रिंस आर्थर को टावर में (अँधेरे गुम्बज़ में) बन्द करके अन्त में जल्लादों के द्वारा उसके प्राण हरण कराये। ऐसे नीच घृणित कार्य के विषय में विद्यार्थियों के मन में उद्वेग उत्पन्न होना चाहिए। ऐसे रोमांचकारी कार्य का स्वरूप और परिणाम विद्यार्थियों के मन पर स्पष्टरूप से प्रतिबिम्बित हो जाना चाहिए; और उनका मन उद्वेग, तिरस्कार तथा घृणा से व्याप्त हो जाना चाहिए। यह बात इतिहास-प्रसिद्ध है कि औरंगज़ेब बादशाह ने उन्मत्ततापूर्वक अपने पिता को जेल मे डाल दिया, और अपने सगे भाइयों के साथ भी अत्याचार करके बादशाही सिंहासन स्वयं छीन लिया। इसी प्रकार के उदाहरणों से विद्यार्थियों को यह भली भाँति दिखला देना चाहिए कि अपने पवित्र कर्तव्यों को भूलकर लोभ के कारण मनुष्य किस प्रकार पशु के समान नीच कर्म करने लगता है, इससे नीच कर्मों के प्रति उनके मन में घृणा उत्पन्न हो जायगी; और वे ऐसे कर्मों से बचे रहेंगे। मानवी स्वभाव की श्रेष्ठ वृत्तियों का उच्च स्वरूप और घृणित वृत्तियों का नीच स्वरूप जब विद्यार्थियों के हृदय पर अङ्कित कर दिया जायगा, तब उनका हृदय नीच कार्यों से घृणा करता हुआ उच्च कार्यों की ओर प्रवृत्त होगा, और वे सदाचारी बनते जायँगे।

उपर्युक्त रीति से विद्यार्थियों के हृदय के वृत्ति-विकास का

कार्य होना चाहिये; और उनकी शिक्षाप्रणाली में ऐसे विषयों का समावेश अवश्य होना चाहिए कि जिनके द्वारा वे अपनी नैतिक उन्नति कर सकें। इतिहास, काव्य, जीवनचरित्र, नीतिविशिष्ट उपन्यास और नाटक, इत्यादि विषयों को शिक्षा-प्रणाली में महत्व का स्थान देना चाहिये।

व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र की उन्नति अथवा अवनति किन कारणों से होती है, दुर्गुणों का नाश और सद्गुणों का विकास हुए विना व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्रों का अभ्युदय नहीं होता, पिछले अनुभवों से आगे किस प्रकार लाभ उठाया जाय, किसी विशिष्ट समय मे किसी विशिष्ट राष्ट्र के पतन के समय उस राष्ट्र का नैतिक तेज कैसा नष्ट हो गया था, इत्यादि सिद्धान्तों का तात्विक ज्ञान इतिहास से प्राप्त होता है; और इसीलिए ऐतिहासिक ज्ञानरूपी धरोहर की राष्ट्र को अत्यन्त आवश्यकता रहती है। जिस राष्ट्र के पास ऐतिहासिक सामग्री नहीं है, वह मानो अन्धकार मे ही भटकता फिरेगा! जैसे लड़कों को उनके कल्याण का मार्ग दिखलाने वाले बुजुर्ग लोग होते हैं उसी भांति यह जानने के लिए कि किसी राष्ट्र के लिए कल्याणकारक मार्ग कौन सा है, इतिहास एक उत्तम साधन है। प्रसिद्ध विद्वान् एडमंड बर्क साहब का कथन है कि, जिस राष्ट्र के पास पिछला इतिहास नहीं है, उस राष्ट्र के पास अगला इतिहास कहां से आवेगा? इतिहास के परिशीलन से न सिर्फ नैतिक सिद्धान्तों का ही तात्विक ज्ञान प्राप्त होता है, किन्तु हृदय की वृत्तियों का विकास होने मे भी वहुत सहायता मिलती है; क्योंकि इतिहास राष्ट्र के सद्गुण समुच्चय का दर्पण है। इस दर्पण में बड़ी-बड़ी विभूतियों और उनके बड़े बड़े गुणो का ठीक-ठीक प्रतिबिम्ब

उतरा हुआ होता है। राष्ट्र के महापुरुष और उनका उच्च श्रेणी का नैतिक तेज चूंकि इस दर्पण मे देखने को मिलता है, अतएव मनुष्य के हृदय पर उसका बहुत उत्तम प्रभाव पड़ता है; और उसका क्रमशः विकास होता जाता है। जब हम को अपने नेत्रों के सामने इस बात का स्पष्ट आदर्श दिखाई देगा कि हमारे ही पूर्वजों ने पूर्वकाल मे इतनो उच्च श्रेणी का नैतिक तेज प्रकट किया, तब हममे कुछ-न-कुछ उनके सद्गुणों का प्रभाव क्यों न पड़ेगा? मनुष्य का हृदय कोई बिलकुल पत्थर के समान कठोर पदार्थ नहीं है; किन्तु वह एक संस्कारशील वस्तु है।

नीति की दृष्टि से, इतिहास की उपयोगिता के विषय में, महाराष्ट्र के प्रसिद्ध लेखक स्वर्गीय विष्णुशास्त्री चिपलूणकर ने बहुत ही मार्मिक वर्णन किया है। वे कहते हैं—"यद्यपि इतिहास मे सदैव यही नहीं पाया जाता कि सज्जनों की जय और दुर्जनों की पराजय ही होती रही हो, फिर भी सम्पूर्ण-तया परिणाम ऐसा ही कुछ दिखाई देता है। इस के अतिरिक्त यह भी मालूम होता है कि यद्यपि यह बात नहीं है कि भल-मनसाहत से चलने पर सदैव अच्छा ही परिणाम होता हो, फिर भी दुष्टता करने से तो अवश्य ही अच्छा परिणाम नहीं देखा जाता है। यह बात अवश्य है कि मनुष्य का यदि किसी प्रकार हित हो सकता है, तो वह भलमनसाहत के बर्ताव से ही हो सकता है, कुमार्ग से तो कदापि हो ही नहीं सकता। सच तो यह है कि महापुरुष, जिनका बड़े-बड़े अवसरों पर भी धैर्यबल अटल रहता है, विपत्ति में भी जो सुख पाते हैं, वह दुष्ट और कुत्सित मनवाले लोगों को बड़े भारी वैभव में भी प्राप्त नहीं होता। मतलब यह है कि चित्त पर

जब यह बात भली भांति बैठ जाती है कि संसाररूपी महानाटक में आज तक कौन कौन से पात्र अपना-अपना अभिनय समाप्त करके निकल गये, तब चतुर मनुष्य सहज ही यह बात जान लेता है कि भला मार्ग कौन सा है और बुरा मार्ग कौन सा है। इसके सिवाय उसको यह भी मालूम होने लगता है कि सच्चा सुख, सच्चा समाधान, सच्चा सन्तोष, सच्ची प्रतिष्ठा किसमें है। हजारों मनुष्यों का अनुभव थोड़े में ही मानो उसे प्राप्त हो जाता है, जिससे उनकी दृष्टि व्यापक हो जाती है; और वह यदि वैसी समझ और दृढ़ निश्चय का पुरुष होता है; तो बहुत जल्द किसी न किसी का आदर्श ग्रहण कर लेता है; और जिस भांति खलासी लोग ध्रुव तारा पर से नौका का नियमन करते हैं, उसी भांति वह उस अपने चुने हुए आदर्श के चरित्र पर बराबर नजर रखकर, तदनुसार अपने जीवन को आगे चलाता है। इस प्रकार इतिहास से सदुपदेश प्राप्त होता है, और इसी लिए एक बड़े ग्रन्थकार ने यथार्थ ही कहा है कि, "इतिहास एक ऐसा पाठ है कि जो प्रत्यक्ष उदाहरणों के साथ पढ़ाया जाता है।"

नीति-विषयक काव्य, नाटक और उपन्यासों के परिशीलन से भी नीति-शिक्षा में बहुत सहायता मिलती है। उत्तम कवि और उपन्यास रचयिता अपने प्रतिभासम्पन्न बुद्धि-वैभव के द्वारा नीतिमत्ता का रहस्य और महत्व बहुत उत्तम रीति से समझाकर हृदय की वृत्तियों को तल्लीन कर देते हैं। सात्विक गुणों की प्रशंसा और दुर्गुणों के धिक्कार का चित्र कवि और उपन्यासकार बहुत ही उत्तम रीति से अङ्कित करते हैं; और अपनी प्रतिभासम्पन्न बुद्धि का पूर्ण उपयोग करके उस चित्र की रमणीयता और सौन्दर्य बढ़ाते हैं, इससे

उत्तम रीति से अंकित किया गया है, वे नाटक और उपन्यास यदि विद्यार्थियों को पढ़ाये जायँगे, तो उनके चरित्र पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा, परन्तु ऐसे वीभत्स और शृङ्गारिक नाटक और उपन्यास यदि उनके हाथ में पड़ेंगे कि जिनमें नीच मनोवृत्तियों का ही वर्णन हुआ है, तो उनके चरित्र पर अवश्य ही बहुत बुरा प्रभाव पड़ेगा। ऐसी घृणित पुस्तकें पढ़ने से मानवी प्रकृति की तामसवृत्तियों का नाश तो होगा ही नहीं किन्तु और उनकी वृद्धि होगी, अतएव जिनमें उत्तम नैतिक उपदेश दिया गया है, वही ग्रन्थ विद्यार्थियों को पढ़ाना चाहिए। नीति की दृष्टि से जो ग्रन्थ हानिकारक हों, उनको पढ़ने की अपेक्षा बिलकुल ही न पढ़ना अच्छा। कुरुचि की शिक्षा देकर विद्यार्थियों का चरित्र और नीति बिगाड़ने की अपेक्षा उनको बिलकुल निरक्षर और लंठ ही बना रखना अच्छा है!

घर की सीमा से निकलकर लड़का जब कुछ समझदार और प्रौढ़ हो जाता है, तब वह अध्यापक के अधिकार में जाता है और लड़के की बुद्धि का उत्तम विकास करके उसके चरित्र और नीति को उत्तम बनाने का पवित्र कार्य उसी अध्यापक के ऊपर आ जाता है। ऐसी दशा में अध्यापन के समान पवित्र कार्य और क्या हो सकता है! अध्यापन की इस पवित्रता को ही ध्यान में रखकर, अध्यापक के विषय में पूज्यभाव रखने का वैदिक उपदेश किया गया है। कहा है:—

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव।

अर्थात् "माता को ईश्वर के तुल्य समझो, पिता को ईश्वर के समान समझो; और आचार्य में भी ईश्वर का भाव रक्खो।"

अस्तु। ऐसी दशा में अध्यापकगण यदि अध्ययन कार्य को पवित्र समझकर, और विद्यार्थियों के इस उच्च भाव को जानकर, अपना कर्त्तव्य बजाने लगें, तो समाज और राष्ट्र का अनुपम कल्याण हो सकता है।

इस शिक्षा के प्रकरण में यदि शिक्षा-प्रणाली का भी कुछ विवेचन किया जाय, तो अप्रासंगिक न होगा। नीति के साधारण सिद्धान्त और उसके उपदेश अध्यापक को लड़कों के मन पर भली भांति अंकित कर देने चाहिएं। सद्वृत्तियों को जागृत करनेवाले अनेक प्रसंग इतिहास, काव्य और उपन्यासों में होते हैं, अतएव इस प्रकार की शिक्षा-प्रणाली से काम लेना चाहिए कि उन प्रसंगों का जैसा का तैसा चित्र विद्यार्थियों के मन पर खचित हो जावे; और उनका रहस्य भली भांति उनके ध्यान मे आ जावे। मनोरंजक और उपदेशप्रद प्रसंगों को इस प्रकार विद्यार्थियों को समझाना चाहिये कि जिससे उनके हृदय की वृत्तियों का विकास हो, और उन प्रसंगों से विद्यार्थीगण अपने जीवन मे पूरा-पूरा लाभ उठा सकें। शिक्षा के विषय मे नीरसता की प्रणाली से लाभ नहीं होता। लड़कों की हार्दिक वृत्तियों को शिक्षक अपनी मधुर और उपदेशात्मक वाणी से जब तक जागृत न करेगा, तब तक उन वृत्तियों का विकास किस प्रकार हो सकता है? शिक्षक को उचित है कि विद्यार्थियों की हार्दिक वृत्तियों को उन्नत करने वाले मनोरंजक प्रसङ्गों को समझाते समय, प्रसङ्गों के महत्त्व के अनुसार, अपने हृदय की भी वृत्ति रखकर, विद्यार्थियों के हृदय को अपनी ओर आकर्षित करे। सच पूछिये तो विद्यार्थियों के हृदय मे सद्वृत्तियों का मधुर रस उत्पन्न होना चाहिये; उनका हृदय जब मधुर रस से आर्द्र हो जायगा,

तभी समझना चाहिये कि उनको सच्ची नीति शिक्षा मिली। हृदय यदि उनका पत्थर के समान कठोर और नीरस बना रहा, और उसमें सद्वृत्तियों की लहर उत्पन्न नहीं हुई तो वह शिक्षा व्यर्थ जायगी।

शिक्षक को उचित है कि लड़कों को जब कोई विषय वह समझाये तब उनके स्वाभाविक दोषों की ओर भी ध्यान रक्खे। कुछ विद्यार्थियों को ऐसी आदत होती है कि किसी विषय को भी वे पूर्ण रीति से नहीं समझते और आगे बढ़ने की इच्छा रखते हैं। उनके मन में इतनी स्थिरता नहीं होती कि वे किसी विषय को भी भली भांति समझ लें। जिस प्रकार अधूरे पके हुए भोजन से शरीर को लाभ नहीं होता, इसी भांति अधूरे समझे हुए विषय से बुद्धि का विकास भी नहीं होता। शिक्षक को चाहिये कि विद्यार्थियों को अचूक विचार करने का अभ्यास करावे और उनकी ईश्वरनिर्मित विवेचना-शक्ति को पूर्णरूप से विकसित करने का प्रयत्न करे। विद्यार्थियों की बुद्धि में यदि कहीं जल्दबाज़ी भूल, असम्बद्धता, बेसमझी, निराधार अनुमान करने की आदत, इत्यादि दोष दिखलाई दें, तो इनको अच्छी तरह जांच कर निकाल डालने की कोशिश करनी चाहिये। ये दोष धीरे धीरे निकाल डालने का यदि प्रयत्न न किया जायगा, तो बुद्धि का विकास न होगा, और बुद्धिमन्दता उत्पन्न हो जायगी तथा आगे के लिए बुद्धि की वृद्धि मारी जायगी। मतलब यह है कि ईश्वरनिर्मित तारतम्य-बुद्धि—विवेचना-शक्ति—का यथोचित विकास करके विद्यार्थियों को ऐसा अभ्यास कराना चाहिये कि जिससे वे किसी विषय का भी अचूक व्यवस्थित और साधार विवेचन कर सकें, और उस विषय

का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त कर सकें। बस, यही बुद्धि-विषयक शिक्षा है। बुद्धि-विषयक शिक्षा का मनुष्य के चरित्र और उसकी नीति पर कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है, अतएव नैतिक शिक्षा की दृष्टि से यह बात अत्यन्त महत्व की है कि मनुष्य की विचार-प्रणाली विशुद्ध हो, और वह किसी विषय का भी अचूक विचार कर सके।

मनुष्य चाहे विद्वान् बन जावे, उसकी बुद्धि विकसित हो जावे, उसकी विचारशैली विशुद्ध और अचूक हो जावे, बुरे-भले की पहचान करने की बौद्धिक शक्ति उसे चाहे प्राप्त हो जावे, नीति-सिद्धान्तों का स्पष्ट ज्ञान होकर इनका रहस्य चाहे ठीक-ठीक उसकी समझ में आ जावे, परन्तु फिर भी, इतने से ही, उसकी नीति-शिक्षा की आवश्यकता कुछ भी कम नहीं होती। प्रसिद्ध अँगरेज ग्रन्थकार डा० जानसन ने एक जगह कहा है:—

"Men speak like angels and act like man."

अर्थात् "मनुष्य देवताओं की भांति बोलते हैं, परन्तु आचरण मनुष्य के समान ही करते हैं।" अवश्य ही हम बातें तो बड़ी-बड़ी किया करते हैं, परन्तु क्या वैसा ही अमल भी हमसे सदैव होता है? समझदार और चतुर मनुष्य, जिसकी बुद्धि भी प्रौढ़ हो जाती है, और विद्वानों में जिस की गणना भी होने लगती है, उसका प्रत्यक्ष आचरण क्या वास्तव में वैसा ही होता है जैसा कि होना चाहिये? यही नहीं, बल्कि ऐसे मनुष्यों की संसार मे कमी नहीं है कि जिनका आचरण उनकी विद्वत्ता के लिए कभी शोभा नहीं देता। इसका कारण क्या है? सच तो यह है कि बुद्धि के विकास के साथ ही साथ यह नहीं

कि, हृदय का भी विकास उसके अनुसार हो ही जाता हो। यह नहीं कहा जा सकता कि केवल बुद्धि-विषयक शिक्षा से हृदय की वृत्तियों का विकास होकर वे उन्नत हो ही जाती हैं। स्थूल दृष्टि से देखते हुए कहना पड़ता है कि बुद्धि और हृदय, ये मनुष्य मे दो स्वतंत्र, अलग-अलग, शक्तियां हैं। निस्सन्देह इन दोनों का परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्ध अवश्य है; फिर भी इन दोनों शक्तियों का विकास स्वतंत्र रीति से ही होना चाहिये। मनुष्य की नीति उच्च और उत्तम होने के लिए यह आवश्यक है कि उसके हृदय पर उत्तम संस्कार पड़ें, और वह क्रमशः उन्नतावस्था को प्राप्त होता जाय। नीति-शिक्षा के द्वारा हृदय की वृत्तियां आर्द्र होनी चाहियें; उनमें कोमलता और सरलता आनी चाहिये। वह शक्ति भी, जो कि सब बुरे-भले कार्यों की कारण है, हृदय की वृत्तियों में ही होती है, और हृदय की ये वृत्तियां ज्यों-ज्यों विशुद्ध और उन्नत होती जायंगी, त्यों-त्यों सदाचार और नीति की वृद्धि होती जायगी और मनुष्य उच्च पदवी को प्राप्त होता जायगा।

चौथा प्रकरण

सदाचार और व्यवहार

एते सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान्परित्यज्य ये।
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये।
तेऽमी मानवराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये।
ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥
—भर्तृहरि।

बालपन से शारीरिक शिक्षा उत्तम प्रकार की मिली, जिससे शरीर सुदृढ़ और जोशीला बन गया; शरीर की सुदृढ़ता के कारण मन उत्साह-पूर्ण प्रबल और कार्यक्षम बन गया; शिक्षा के द्वारा बुद्धि की मन्दता दूर हो गई; और वह तीव्र तथा प्रखर बन गई; विचार में स्थिरता, सरलता और विशुद्धता आ गई; नीति शिक्षा के द्वारा हृदय पर उच्च और श्रेष्ठ संस्कार पड़े, जिससे हृदय की वृत्तियों का विकास होने लगा। यह सब हुआ; परन्तु फिर भी इतने ही से यह नहीं कहा जा सकता कि अति उच्च और श्रेष्ठ नैतिक वायुमंडल में यथेच्छ संचार करने की योग्यता मनुष्य को प्राप्त हो गई। अगला मार्ग उसे अभी बहुत चलना है; और सामग्री उसके पास इतनी है कि बालपन में घर में उसके मन पर उच्च संस्कार डाले गये हैं, और प्रौढ़ होने पर शारीरिक और

मानसिक शिक्षा उसे उत्तम अवश्य मिली है। सच पूछिये तो नीतिपंथ की भिन्न मंज़िलें हैं; उनको धैर्य और दृढ़ता के साथ पार करना है; और फिर अन्त की मंजिल—मंजिले मकसूद—तक पहुँचकर मानवी जीवन की श्रेष्ठ सफलता प्राप्त करनी है। यह काम वास्तव में बहुत कठिन है। फिर भी इन मंजिलों मे से प्रत्येक मंजिल की यात्रा यदि व्यवस्थित रीति से और धैर्य के साथ की जायगी, तो अगला मार्ग अवश्य ही सरल हो जायगा। बालपन मे घर में लड़के के मन पर जब उत्तम संस्कार पड़ेंगे, तभी आगे चलकर प्रौढ़ावस्था मे शिक्षा के द्वारा हृदय की वृत्तियों का विकास होगा। बालपन के उत्तम संस्कार और प्रौढ़ावस्था की उत्तम शारीरिक और मानसिक शिक्षा की साधनसामग्री लेकर मनुष्य अब विस्तृत संसार मे प्रवेश करेगा। पक्षी अपने बच्चों को पहले अपनी चोंच से दाना चुगाता है; फिर जब बच्चे कुछ बड़े हो जाते है, और उनके पंख फूट आते है, तब वह उनको अपने साथ उड़ने के लिए ले जाता है, और जब उनको अच्छी तरह उड़ना आने लगता है, तब वे हवा में आनन्दपूर्वक, जहाँ चाहते है, संचार करने लगते हैं। बस, इसी भांति बालपन और प्रौढ़पन की संस्कार-सामग्री साथ लेकर मनुष्य विस्तृत संसार मे संचार करने के योग्य बन जाता है। नैतिक उन्नति की सर्वोच्च सीढ़ी पर पहुँचने के लिए बाल्यावस्था और प्रौढ़ावस्था की दो सीढ़ियाँ जब व्यवस्थित रूप से पार कर लेते हैं, तब तीसरी सीढ़ी व्यावहारिक जीवन की आती है। बालपन मे बालक के मन पर आसपास की परिस्थिति का प्रतिबिम्ब पड़ता है, प्रौढ़ावस्था मे, जब कि विचार-जागृति हो जाती है, शिक्षा के द्वारा उसका मन

सुविचारों और श्रेष्ठ संस्कारों से सम्पन्न करना पड़ता है, और आगे जब मनुष्य सांसारिक व्यवहारों में प्रवेश करता है, तब अपने कर्तव्य को बजाकर उसको अपनी उन्नति करनी होती है। मतलब यह है कि बाल्यावस्था में संस्कार प्रौढ़ावस्था में शिक्षा और व्यावहारिक अवस्था में कर्तव्य के द्वारा मनुष्य के हृदय की वृत्तियों का विकास होता रहता है। मानवी जीवन की इन तीन अवस्थाओं में हार्दिक वृत्तियों का विकास करनेवाले मानो ये तीन साधन हैं। यह नहीं कि प्रौढ़ावस्था में मनुष्य बिलकुल कर्त्तव्यशून्य रहता हो; किन्तु इस अवस्था में उसका कार्य प्रायः बौद्धिक और नैतिक शिक्षा प्राप्त करने का ही रहता है। इसी भांति यह भी नहीं कहा जा सकता कि व्यावहारिक अवस्था मे मनुष्य को कोई शिक्षा नहीं मिलतती; मिलती है; परन्तु इस अवस्था में मुख्यतया उसका कार्य सांसारिक कर्तव्य करके अपनी उन्नति करने का होता है।

अपना कर्तव्य उत्तम रीति से बजाना भी हृदय के विकास के लिए एक बहुत आवश्यक बात है। कमल जिस प्रकार सूर्य की किरणों से खिलता है, अपना सांसारिक व्यवहार उत्तम रीति से चलाने से उसी प्रकार हृदय की वृत्तिया भी विकसित और प्रफुल्लित होती है। कर्त्तव्य व्यावहारिक अवस्था का एक बहुत बड़ा रहस्य है। इसी अवस्था मे मनुष्य को सत्कार्य करने का अच्छा अवसर मिलता है, इसलिए यह स्पष्ट है कि मनुष्य की व्यावहारिक अवस्था उसके हृदय को उन्नत बनाने का एक मुख्य साधन है। सांसारिक व्यवहार में पड़ने पर भिन्न व्यक्तियों के साथ मनुष्य का सम्बन्ध उत्पन्न हो जाता है; और इसलिए उनके विषय में अपना

कर्तव्य उत्तम प्रकार से पूरा करना उसके लिए एक अत्यन्त आवश्यक बात हो जाती है। मनुष्य में जब अपने कर्तव्य के विषय में निष्ठा उत्पन्न हो जाती है, और वह अपना कर्तव्य समुचित रूप से करने लगता है, तब उसके हृदय की वृत्तियां भी उन्नत होने लगती हैं। मानवी हृदय मे परमेश्वर-निर्मित सद्गुणों का बीज रहता है, यह बीज सांसारिक कर्तव्य के साधन से अंकुरित होकर बढ़ने लगता है; और यदि उचित सांसारिक कर्तव्य का जल हम उसमें बराबर डालते रहते हैं तो धीरे-धीरे वही बीज एक बहुत ही उत्तम वृक्ष के रूप में परिणत हो जाता है। परन्तु यह कर्त्तव्य का जल यदि उसे नहीं मिलता, तो वह बीज हृदय का हृदय में ही जल-भुनकर नष्ट हो जाता है। किसी मनुष्य को यदि आप अनेक वर्ष तक अँधेरी कोठरी में बन्द कर रखिये, तो उसकी आंखों का स्वाभाविक तेज नष्ट हो जायगा। सच तो यह है कि आंखों का यह स्वाभाविक तेज सूर्य-प्रकाश के सतत-सम्बन्ध से ही स्थिर रहता है। इसी भांति मानवी हृदय के सद्गुणों का तेज भी सांसारिक कर्तव्य से ही बढ़ता रहता है। संसार के सब व्यावहारिक कर्तव्य छोड़कर मनुष्य यदि किसी निष्कर्मशील की भाँति रहने लगे, तो जन्मभर अँधेरी कोठरी में बँधे हुए मनुष्य की भांति उसके हृदय के सद्गुणों का भी विकास कदापि नहीं होगा। जिस प्रकार शरीर को सुदृढ़ बनाने के लिए व्यायाम की अत्यन्त आवश्यकता है, बुद्धि की प्रखरता और उसकी शक्ति बढ़ाने के लिए जिस प्रकार बौद्धिक शिक्षा की आवश्यकता है, उसी भांति हृदय की सद्वृत्तियों का विकास करने के लिए व्यावहारिक कर्तव्य का भली भांति पालन करना एक उत्तम साधन है। संसार छोड़कर यदि

कोई मनुष्य बिलकुल निर्जन वन में जाकर रहे, तो उसका हृदय नीरस होता जायगा ; और उसकी सद्वृत्तियों का लोप हो जायगा। मानवी शरीर की हस्त-पादादि सब इन्द्रियां जब नित्य अपना-अपना कर्त्तव्य कर रही है, तभी उनकी शक्ति बनी हुई है। इसी भांति संसार के सत्कार्यों से जब हम अपने हृदय पर उत्तम संस्कार डालते है, तभी हमारे हृदय की सद्वृत्तियां स्थिर रहती है—न सिर्फ स्थिर ही रहती हैं, किन्तु धीरे-धीरे वे उन्नत भी होती जाती हैं।

जो लोग सर्वसंग-परित्याग करके, वनवासी बनकर, ईश्वरभक्ति करने की इच्छा रखते है, वे प्रायः सुजान नहीं होते। सोचने की बात है, जो लोग सदाचार-सम्बन्धी सांसारिक कर्तव्यों से घबड़ाकर दूर भागना चाहते है, उनके हृदय में प्रेम और भक्ति का भाव कहां से उत्पन्न होगा? व्यावहारिक कर्तव्यों से जो मनुष्य ऊब गया है; उसके मन में उद्वेग और खिन्नता को छोड़कर अन्य भाव कहां से आवेगे? छोटी सी बावड़ी में ही जो मनुष्य भली भांति नहीं तैर सकता, वह विस्तृत समुद्र में कैसे तैर सकता है? अवश्य ही घबड़ाकर बीच ही मे गोता खाकर डूब जाने के सिवाय उसकी और क्या गति हो सकती है? सांसारिक कर्तव्यों से उद्विग्न हो जाने के कारण सार्वत्रिक प्रेम का झरना जिसके हृदय मे उत्पन्न नहीं हुआ ; बल्कि इसके विरुद्ध कर्तव्य-विषयक उद्वेग और खिन्नता से जिसका हृदय व्याप्त है, उस मनुष्य का नीरस और शुष्क हृदय ईश्वरभक्ति से द्रवित कैसे होगा—ईश्वरभक्ति के लिए उसमे स्थान ही कहां से आवेगा? संसार की सेवा करके —जनतारूप जनार्दन की भक्ति करके—जिसने अपने हृदय को आर्द्र नहीं बना लिया है, उसके हृदय

ईश्वरभक्ति का अंकुर कैसे उठेगा ? ऐसी स्थिति में परमेश्वर-प्राप्ति की इच्छा रखनेवाले मनुष्य की गति विस्तृत समुद्र में उड़कर पार पाने की इच्छा रखनेवाले कौवे के समान ही होगी ! बीच ही मे शक्ति-हीन बनकर नीचे गिरकर डूब जाने की नौबत आवेगी। व्यावहारिक कर्तव्यों को करते हुए ही वह श्रेष्ठ श्रेणी का प्रेमस्रोत हृदय में उत्पन्न करना होता है जिसके द्वारा हम परमेश्वर को प्रसन्न कर सकते है। शायद कोई कोई पुरुष ऐसे भी होंगे कि जो एकदम बनवासी बन कर ईश्वर को पा सकते होंगे; परन्तु उनको अपवादरूप समझना चाहिये, उनके कारण उपर्युक्त सर्वसाधारण नियम में बाधा नहीं आ सकती।

प्रसिद्ध श्रीस्वामी विवेकानन्दजी ने एक दृष्टांत दिया है। एक हठयोगी सर्वसंग-परित्याग करके योगसाधन द्वारा परमेश्वर-प्राप्ति करने के लिए जंगल मे जाकर रहने लगा। उसका यह नित्यक्रम था कि प्रतिदिन सुबह उठकर स्नान, संध्या इत्यादि नित्य कर्म करके एक वृक्ष के नीचे एक चबूतरे पर बैठकर कुछ देर योग-साधन करता, और फिर आस-पास के गांवों मे जाकर भिक्षा मांगकर भोजन करता। एक दिन नित्यनियमानुसार स्नान-संध्या से निपटकर योग-साधन करने के लिए वह अपने स्थान पर बैठा था कि इतने में उसके ऊपर वृक्ष पर बैठी हुई चिड़ियों ने बहुत शोर मचाया, जिससे उसके साधन में विघ्न पड़ने लगा। इस कारण क्रोध से संतप्त होकर ज्यां ही उसने ऊपर चिड़ियों की ओर देखा, त्यों ही उसके तप के प्रभाव से वे चिड़ियां जल-भुनकर नीचे गिर पड़ीं ! इसके बाद वह अपना साधन करके फिर रोज़ की तरह किसी गांव के एक घर में भिक्षा

मांगने गया। वह वहुत देर तक सवाल करता रहा, पर सुनवाई न हुई। इस पर उसे वड़ा क्रोध आया। इतने में एक स्त्री भीतर से भिक्षा लेकर आई, और उस योगी को क्रुद्ध देखकर कहने लगी कि वावा, मैं उस पेड़ की चिड़ियों में से नहीं हूँ जो आप के क्रोध से जलकर भस्म हो जाऊंगी। मैं आपके इस क्रोध की कुछ भी परवा नहीं करती! उसका यह गूढ़ कथन सुनकर योगी को वड़ा अचम्भा हुआ, और उसने उस स्त्री को महाज्ञानी समझा, और उसे साष्टांग नमस्कार करके पूछा कि देवी, तुमको उन जंगल की चिड़ियों का हाल कैसे मालूम हुआ? स्त्री ने उत्तर दिया, कि "वावा, मै आपके समान कोई तपस्वी इत्यादि नहीं हूँ, मैं अपने रोज़ के व्यावहारिक कर्तव्य हृदयपूर्वक करती हूँ, और सास, श्वसुर, भर्त्ता इत्यादि वड़ों की सेवा श्रद्धा के साथ करती हूँ। इस समय भी मै अपने पति को स्नान करवा रही थी, इसी से भिक्षा मे विलम्ब हुआ। आप क्षमा करें, मैं अपने सांसारिक कर्तव्य सचाई और भक्ति से करती हूँ, और इसी कारण मुझे गुप्त और प्रकट सब वातों के जानने की शक्ति ईश्वर से प्राप्त होगई है!"

इस विषय में शिवाजी महराज को सम्बोधन करके साधुवर्य तुकारामजी ने जो उपदेश किया है वह भी वहुत ही सरस है। शिवाजी महाराज के एक मराठी चरित्र मे इस विषय में इस प्रकार लिखा हुआ है, "एक वार शिवाजी महाराज तुकारामजी का हरिकीर्तन श्रवण करने के लिए अपने साथियों के साथ गये। तुकाराम महाराज ने अपने कीर्तन में वैराग्यवृत्ति का निरूपण करके ईश्वर की भक्ति करने का उपदेश श्रोता लोगों को दिया। सांसारिक वैभव

और ऐश्वर्य की अस्थिरता, विषय-सुख की हानि और जीवन की क्षणभंगुरता का विवेचन सुनकर शिवाजी महाराज की चित्तवृत्ति मे एक विचित्र प्रकार का परिवर्तन हो गया। वे स्वभाव से ही भावुक और सदाचारी थे, अतएव तुकारामजी के उपदेश का उनके मन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा, और उनके सरस और सरल हृदय को यह पूर्ण विश्वास हो गया कि तुकारामजी के उपदेश के अनुसार चलने से अवश्य ही मुक्ति प्राप्त होगी। कीर्तन समाप्त होने पर छत्रपति शिवाजी तुकाराम महाराज से विदा होकर अपने स्थान को चले गये, और फिर थोड़ी देर बाद जंगल में एकान्त मे जाकर तुकारामजी के उपदेश का मनन करने लगे। उनकी यह दशा देखकर उनके साथ के कुछ लोग उनके पास गये, और कहा कि इस अवस्था में आपको इस प्रकार की विरक्ति होना ठीक नहीं है। किन्तु महाराज ने उनके कथन पर कुछ भी ध्यान न दिया। तब तो उन लोगों को बड़ी चिन्ता हुई, और उन्होंने इसका सारा वृत्तान्त माता जिजाबाई को लिख भेजा। जिजाबाई बहुत शीघ्र पालकी पर बैठकर वहां आईं, और पहले सीधे तुकाराम महाराज के पास गईं और विनती करके उपर्युक्त सब वृत्तान्त उनसे बतलाया। उन्होंने कहा "स्वामीजी, मेरा पुत्र शिवाजी आपका हरिकीर्तन सुनकर विरक्त हो गया है, और घर द्वार छोड़कर जंगल मे जा बैठा है। अब उसके प्राप्त किये हुए राज्य को कौन सम्हालेगा? वह फिर यवनों के हाथ में चला जायगा, और बेचारी हिन्दू-प्रजा को फिर विधर्मियों से तंग होना पड़ेगा। अतएव आप इसकी ओर ध्यान देवें, और उसको राज्य-प्रबन्ध का उद्योग न छोड़ने के विषय में

उपदेश दें !" उनका यह नम्रतापूर्ण निवेदन सुनकर तुकारामजी ने आश्वासन देकर उनसे कहा, "शिवाजी महाराज आज रात को जब फिर कीर्तन सुनने आवेंगे, तब हम उनको समझाकर फिर राज्य की ओर उनका मन आकर्षित करने का प्रयत्न करेंगे !"

इस प्रकार प्रबन्ध करके उस रात को स्वयं जिजाबाई तुकारामजी का कीर्तन सुनने आईं। महाराज शिवाजी भी नित्यनियमानुसार आये। आज के कीर्तन मे तुकारामजी ने कर्मकांड का प्रयोजन बतलाकर यह विवेचन किया कि प्रत्येक को अपने-अपने धर्म और कर्तव्य के अनुसार चलना चाहिए, इसी में कल्याण है। ईश्वर-भक्ति के लिए घर छोड़कर जंगल में चले जाने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। लोगों के बीच में रहकर अपना कर्तव्य उत्तम रीति से करते हुए अपने देश-भाइयों के सुख की यथाशक्ति वृद्धि करने मे ही रात-दिन प्रयत्न करते रहना चाहिए। इसी में सच्चा पुरुषार्थ है। हमारे आसपास के लोगों की सब प्रकार दुर्दशा हो रही है; और उसे हम अपनी आंखों से देख रहे हैं—ऐसी दीन दशा मे लोगों को छोड़कर, केवल अपनी मुक्ति का उद्देश्य सामने रखकर; गिरिगुहा मे जा बैठना न सिर्फ़ स्वार्थ का ही काम है; किन्तु इससे एक प्रकार की कायरता भी दिखलाई देती है। सच तो यह है कि संसार का उपकार करते हुए यदि कोई गृहस्थाश्रम मे रहे, तो उसके समान और कोई परमार्थी नहीं हो सकता। गृहस्थी से घबड़ाकर, बालबच्चों को त्याग करके, जो लोग भस्म रमाकर साधू संन्यासी बन जाते है, उनसे इन्द्रियों का दमन कदापि नहीं हो सकता, और वे मोह के गर्त में फिर से गिर

कर लोक-निन्दा के पात्र होते हैं। उनका कहीं आदर नहीं होता और मोक्ष से तो वे सैकड़ों कोस दूर हो जाते हैं। इस लिए गृहस्थाश्रम का त्याग करके संन्यासी बनकर इधर उधर घूमने की अपेक्षा गृहस्थी में रहकर ही सदाचार और नीति से चलना और यथाशक्ति परोपकार और ईश्वर भक्ति करते रहना विशेष कल्याणकारक है। इस प्रकार साधारण गृहस्थाश्रम का उपदेश करके फिर तुकाराम महाराज ने राजा के कर्तव्य के विषय में थोड़ा सा विवेचन किया जिसमें उन्होंने बतलाया कि राजा यदि सदाचारी और प्रजापालन में दक्ष होता है, तो उसके हाथ से लोकोपकार बहुत अच्छा हो सकता है। इसके बाद उन्होंने अम्बरीष, जनक, युधिष्ठिर इत्यादि का उदाहरण देकर यह सिद्ध किया कि ईश्वर-भक्ति और सदाचार प्राप्त करने के लिए राजा को राज्य छोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह दृष्टान्तयुक्त प्रभावशाली उपदेश सुनकर महाराज के मन मे यह पूरा निश्चय हो गया कि तुकारामजी का उपदेश यह बिलकुल सत्य है; और इसके अनुसार चलने से ही वास्तविक कल्याण हो सकता है। इसके बाद तुकाराम महाराज तथा माता जिजाबाई को साष्टांग प्रणाम करके वे अपने स्थान को चले गये। और स्वराज्य प्राप्त करने का प्रशंसनीय उद्योग वे फिर बराबर करते रहे!

मतलब यह है कि सांसारिक कर्तव्य ही हृदय की वृत्तियों को उच्च और उन्नत बनाने का उत्तम साधन है।

इस सांसारिक व्यवहार का प्रारम्भ पहले पहल घर से ही हुआ करता है। कौटुम्बिक व्यवहार जब हम उचित रीति से चलाने लगते हैं, तब हमारे हृदय की प्रेम-वृत्तियों का

विकास होने लगता है। जिसके बालबच्चे, इष्ट-मित्र, बन्धु-बांधव कोई नहीं हैं, अथवा इनके होते हुए भी जिसने इनके साथ अपने उचित कर्तव्य का पालन नहीं किया है, उसका हृदय प्रेमार्द्र कैसे होगा। उसका हृदय अवश्य ही उच्च भावों से हीन, नीरस और प्रेमशून्य होगा। ऐसे हृदय में देश-भक्ति अथवा ईश्वर-भक्ति का भी अंकुर नहीं उठ सकता। किसी आधुनिक कवि ने क्या ही अच्छा कहा है:—

जो भरा नहीं है भावों से,
बहती जिसमें रसधार नहीं।
वह हृदय नहीं है, पत्थर है,
जिसमें स्वदेश का प्यार नहीं॥

सारांश यह है कि कौटुम्बिक कर्तव्य से ही गृहस्थ मनुष्य के हृदय में पहले पहल प्रेम-वृत्तियों के विकास होने का अवसर मिलता है। प्रेममय व्यवहार से ही प्रेम का विकास होता है, प्रेम से ही प्रेम की वृद्धि होती है।

जैसा कि हमने ऊपर बतलाया, जब पहले कौटुम्बिक प्रेम-मय व्यवहार से हार्दिक वृत्तियों का विकास होता रहता है, तब फिर कुटुम्ब के बाहर विस्तृत संसार मे अपना कर्तव्य पालन करके हार्दिक वृत्तियों को विकसित करने का अधिक और विस्तृत अवसर मिलताहै। क्योंकि प्रेममय व्यवहार का क्षेत्र ज्यों ज्यों विस्तृत होता जाता है, त्यों-त्यों प्रेमवृत्तियों का विकास भी अधिकाधिक होता है। इसके बाद फिर अन्त में—

"वसुधैव कुटुम्बकम्"

अर्थात् "सारा संसार ही कुटुम्ब है"—इसकी भावना

रखकर जो सदाचारी पुरुष अपना कर्तव्य करते रहते है, उनकी हार्दिक वृत्तियां उच्च और श्रेष्ठ होती जाती है। और इस कौटुम्बिक व्यवहार के बाहर मनुष्य जो प्रेम और उपकार का भाव रखकर अपना कर्तव्य करता है, उसी को परोपकार कहते हैं। परोपकार करने की ज्यों-ज्यों आदत पड़ती जाती है, त्यों त्यों हार्दिक वृत्तियों का विकास होता जाता है और अन्त में परोपकार-भावों के कारण स्वार्थभाव का बिलकुल लोप होता जाता है, परोपकार ही मनुष्य का स्वार्थ हो जाता है। इस परोपकाररूपी यज्ञ मे स्वार्थ की आहुति डालकर, स्वार्थ को समूल भस्म करके, जिन महात्मा लोगों ने अजर और अमर कीर्ति प्राप्त की है, उनका इतिहास पढ़ने से ही हार्दिक वृत्तियों का विकास होने लगता है। परोपकार की महिमा बड़ी विचित्र है। ऐसे परोपकार के कार्य करने के लिए संसार के अतिरिक्त और कहां अवसर मिल सकता है? क्या विरक्त होकर जंगल मे जाकर रहनेवालों को यह मौका कभी मिल सकता है?

परोपकार भाव से जो महात्मा लोग दूसरे का कल्याण करने मे सदैव तत्पर रहते है, उन सत्पुरुषों के हृदय की क्षुद्र वृत्तियाँ नष्ट हो जाती है; और श्रेष्ठ वृत्तियां पूर्णतया विकसित होती है। इस प्रकरण के प्रारम्भ में जो श्लोक दिया हुआ है, उसमे सत्पुरुषों का यही लक्षण बतलाया है कि जो परोपकार के लिए अपने स्वार्थ को तिलांजलि दे देते है, वही सत्पुरुष है। इङ्गलैंड का राजा आल्फ्रेड दि ग्रेट, ग्रीस के प्रसिद्ध महात्मा साक्रेटीस, शार्मण्य देश के प्रसिद्ध धर्म-सुधारक मार्टिन लूथर, भारत के महात्मा गौतम बुद्ध, स्वामी दयानन्द, छत्रपति शिवाजी, अमेरिका के प्रसिद्ध वीर जार्ज

वाशिंगटन, इत्यादि इसी श्रेणी के सत्पुरुष हैं। माता का हृदय जिस प्रकार सदैव अपने पुत्र के कल्याण मे लगा रहता है, उसी प्रकार जिस राजा का हृदय प्रजा के सुख और कल्याण मे लग रहा था, अपने सुख को परवा न करते हुए प्रजा के सुख के लिए जो राजा सदैव निष्काम प्रयत्न करता रहता था, जिसने अपने देश के उद्धार के लिए अनेक संकट और कष्ट सहकर परकीय डेन्स लोगों को बड़े पराक्रम से निकाल बाहर किया ; और बड़े चातुर्य्य और निस्वार्थ भाव से राज्य का उत्तम प्रबन्ध कर दिया, उस राजा अल्फ्रेड दि ग्रेट का महत्व जितना भी वर्णन किया जाय, थोड़ा हो है। ऐसी अति उच्च कर्त्तव्यनिष्ठा और व्यवहारदक्षता से यदि हृदय की सद्वृत्तियों का पूर्ण विकास हो, तो इसमें क्या आश्चर्य है ? सम्पूर्ण मानव-जाति के पाप-तापों का नाश करने के लिए सबको सन्मार्ग में लगाने के पवित्र उद्देश्य से प्रेरित होकर, जिस पुण्यश्लोक पुरुष ने अपने मा-बाप, स्त्री-पुत्र, इष्ट-मित्र और राज्य का भी मोह छोड़कर, सारे ऐश्वर्य और सुख को लात मारकर, आधी रात के समय सब सुखों, से सजे हुए राजमहल को छोड़ दिया, और जिसने अपने सुन्दर और श्रेष्ठ उपदेशों तथा अपने पवित्र आचरण से हजारों लोगों को पवित्र करके तथा देशदेशान्तर मे अपनी शिक्षा को फैलाकर, एक प्रकार से संसार की कायापलट कर दी, उस महात्मा गौतम बुद्ध के हृदय की विशालता का अनुमान आप कीजिए ! ऐसे परम पवित्र और प्रेममय कर्त्तव्य से हार्दिक वृत्तियाँ यदि उन्नत और उच्च बने, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। गोब्राह्मण प्रतिपालन करने के सद्भाव से प्रेरित होकर, अपना उच्च उद्देश्य सिद्ध करने के लिए, स्व-

राज्य-सम्पादन करने के लिए, जिसने बहुत बड़े-बड़े प्रयत्न किये और सारे जीवन अपने शरीर, सुख और स्वार्थ की कुछ भी परवा न करते हुए जिस पुरुष-सिंह ने अपना तन मन धन सारा लोक-कल्याण में लगा दिया; मतलब यह है कि, परोपकाररूपी यज्ञ में जिस महात्मा ने अपने प्राणों की आहुति दी, उस वीर सत्पुरुष शिवाजी महाराज के हृदय की उदारता का विचार कीजिए! शुभ कार्यों से हृदय के विशाल, उदार और उच्च बनने के ऐसे ही अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

ऊपर जिस प्रकार की विभूतियों का वर्णन किया गया, उस प्रकार की अनेक विभूतियां अपने सदाचार के कारण इतिहास के गगन-पटल में तेजस्वी नक्षत्रों की भांति चमक रही हैं। निस्सन्देह ये पुरुष और इनके कार्य अलौकिक श्रेणी के होते है; तथापि ऐसे श्रेष्ठ पुरुषों को भी सांसारिक व्यवहारों से ही अपनी चित्तवृत्तियों का विकास करना होता है। सारांश यह है कि, मनुष्य चाहे श्रेष्ठ हो, और चाहे कनिष्ठ हो, प्रत्येक को अपनी-अपनी योग्यता और अधिकार के अनुसार सांसारिक व्यवहार उत्तम रीति से चलाकर ही अपनी आत्मिक और मानसिक उन्नति करनी होती है। सांसारिक व्यवहार न करते हुए नैतिक उन्नति की इच्छा करना मानो मन के मोदक खाना है; अथवा इस प्रकार व्यर्थ है जैसे कोई पैरों के बिना चलने का प्रयत्न करता हो। मतलब यह है कि छोटे बड़े सभी सांसारिक व्यवहारों का पालन किये बिना नैतिक उन्नति नहीं हो सकती। परमेश्वर ने यह सृष्टि-रचना इसी हेतु से की है कि मनुष्य इस में समुचित रूप से व्यवहार करके अपनी उन्नति कर लेवे। मनुष्य प्राणी इस विस्तृत संसार को लाभ क्या पहुँचा सकता है! हां, इस संसार के कारण वह लाभ

अवश्य उठा सकता है; और इससे उसकी उन्नति में पूरी मदद मिलती है। स्वामी विवेकानन्दजी ने यथार्थ ही कहा है कि हम इस संसार का सुधार क्या कर सकते हैं? यह कुत्ते की पूंछ की भांति सदैव ऐसा ही टेढ़ा रहा है, और रहेगा। हाँ यदि हम चाहें, तो इसमें सदाचार से चलकर अपना सुधार अवश्य कर सकते हैं। लूले, लँगड़े और अंधे, इत्यादि निराश्रित लोगों को थोड़ा-बहुत दान दे देने से, अथवा और इसी प्रकार के कुछ परोपकारी कार्य करने से, संसार की स्वाभाविक स्थिति मे कोई अन्तर नहीं पड़ सकता। हां, इस प्रकार के परोपकार-पूर्ण कार्य करने से मनुष्य के हृदय का विकास अवश्य होता है; और इस तरह उसकी उन्नति होने में संसार से सहायता मिलती है।

हमने ऊपर बतलाया है कि सांसारिक कर्त्तव्य और व्यवहार भलीभांति पूर्ण करने से मानवी हृदय की प्रेम-वृत्तियों का विकास होता है, और जब इन प्रेम-वृत्तियों का विकास होने लगता है, तब हृदय की क्षुद्र स्वार्थ-प्रवृत्तियां निर्बल होती जाती हैं। मानवी हृदय में जिस प्रकार सद्गुणों का बीज मौजूद है, उसी प्रकार स्वार्थ का बीज भी मौजूद है। हृदय मे यदि कहीं स्वार्थवृत्ति बिलकुल न होती, तो मनुष्य देवताओं की श्रेणी में गिना जाता; और सृष्टि की रचना मे आज बहुत कुछ अन्तर दिखलाई पड़ता। यह कहने में कुछ अतिशयोक्ति नहीं हो सकती कि संसार के सारे व्यवहार और सारी घटनाएँ स्वार्थमूलक हैं। महात्मा तुलसीदासजी ने कहा ही है कि:—

सुर नर मुनि सब कै यह रीती।
स्वारथ लागि करैं सब प्रीती॥

यह स्वार्थ-वृत्ति यदि हृदय से नष्ट हो जाय, तो संसार के सारे व्यवहार और उद्योग एकदम बन्द हो जायँ। स्वार्थ प्रवृत्ति के कारण ही उद्योग होते हैं; और उद्योगों से स्वार्थ सधता है। यही सृष्टि-व्यवस्था है। इस सृष्टि-रूपी घड़ी के चक्र को अनवरत गति देनेवाली कल केवल एक स्वार्थ बुद्धि ही है, और वह स्वार्थ-बुद्धि और कुछ नहीं—मनुष्य का अपने निज के ऊपर प्रेम है। यह अपना प्रेम मर्यादित निष्कलंक और शुद्ध होना चाहिये। यही स्वार्थभाव जब अमर्याद रूप से बढ़ने लगता है—शुद्ध और निष्कलंक प्रेम के स्थान में जब दोषयुक्त स्वार्थ बढ़ने लगता है—तभी मनुष्य की नैतिक अवनति का प्रारम्भ हो जाता है। हृदय मे शुद्ध प्रेम का अंकुर चाहे पहले स्वार्थरूप से ही क्यों न रहता हो, आगे चलकर यदि उसकी शुद्धता बनी रहती है, और यदि वह धीरे-धीरे बढ़ता जाता है, तो फिर उसका एक ऐसा बड़ा प्रेमवृक्ष बन जाता है कि जिसकी छाया के आश्रय मे सैकड़ों मनुष्यों को सुख और शांति मिलती है। इसी निष्कलंक स्वार्थ-बुद्धि का स्वरूप अन्त में श्रेष्ठ परोपकार-भाव में परिणत हो जाता है। इस स्वार्थभाव को परमार्थ या परोपकार-भाव का स्वरूप देने मे ही मनुष्य की उन्नति होती है; परन्तु जब इस स्वार्थभाव की जांच हम नहीं कर पाते, और उसको अमर्याद रूप से बढ़ने देते हैं, तब नीति और सदाचार का ह्रास होने लगता है। इस निष्कलंक प्रेम की जब वृद्धि होती जाती है तब उच्च प्रेम और परोपकार-भाव का आविर्भाव मनुष्य मे होता है और जब एक बार परोपकार भाव मनुष्य मे आ जाता है तब स्वार्थ का महत्व और उसकी महिमा जाती रहती है उस पक्षी को, जो कि विस्तृत आकाश मे यथेच्छ संचार

करता रहता है, क्या पिंजड़े में फुदकते हुए कभी सुख हो सकता है ? शुद्ध आत्मप्रेम की ज्योति का प्रकाश ज्यों ज्यों बढ़ता जाता है त्यों त्यों अशुद्ध आत्मभाव या स्वार्थ-स्वरूप का लोप उसी में होता जाता है, और हृदय सार्वत्रिक प्रेम या विश्वबन्धुत्व से व्याप्त होता जाता है। सच है, समुद्र मे जाकर जब नदी मिल जाती है, तब नदी का स्वरूप लुप्त हो ही जाता है। जंगल में एक वृक्ष की खोह में पक्षियों की एक जोड़ी और उसके बच्चे रहते थे। एक बार कुछ यात्री उस वृक्ष के आश्रय मे आकर ठहर गये। रात को उन प्रवासियों को बहुत जाड़ा मालूम हुआ। यह देखकर उस वृक्ष पर रहनेवाले पक्षी को बहुत दया आई। तुरन्त ही वह घोसले से उड़ता हुआ एक ऐसे स्थान पर जा पहुँचा, जहां कुछ लोग बैठे हुए आग ताप रहे थे। वहां से वह पक्षी अपनी चोंच मे आग की एक चिनगारी उठा लाया, और उन मुसाफिरों के पास नीचे डाल दी। मुसाफिरों ने आग जलाकर अपने शीत को भगाया, और बड़ा सुख पाया। इसके बाद उस पक्षी को मालूम हुआ कि वे यात्री भूख से बहुत व्याकुल हो रहे हैं। परन्तु आसपास उस पक्षी को ऐसा कोई पदार्थ न देख पड़ा कि जिसके द्वारा वह उन अतिथियों की क्षुधा शान्त कर सकता। अन्त मे यह सोचकर कि, देखो, इन मेहमानों की सेवा करने के लिए मेरे पास कोई साधन नहीं है, वह पक्षी अत्यन्त व्याकुल हुआ। परन्तु फिर उसने विचार किया कि यदि मै स्वयं इस नीचे जलती हुई आग मे कूद पड़ूँ तो कम से कम एक मुसाफिर की क्षुधा कुछ न कुछ अवश्य ही शान्त होगी और मेरा यह नश्वर शरीर परोपकार मे लग जायगा। यह विचार अपनी स्त्री और बच्चों को बतलाकर वह नीचे आग मे कूद पड़ा। इसके बाद उसकी

धर्म-पत्नी और बच्चों ने सोचा कि अब हमारा भी जीवन यदि परोपकार में लग जाय, तो बहुत अच्छा। और यह सोचकर वे सब भी उसी के अनुगामी बने! पाठको, उन पक्षियों से दूसरे का दुःख देखा न गया, और परोपकार के लिए उन्होंने अपने प्राणों की भी आहुति दे दी। धन्य है, उस पक्षी के कुटुम्ब को! कैसा उज्ज्वल, निष्कलंक और पवित्र प्रेम का उदाहरण है! कैसा उच्च स्वार्थत्याग है! दूसरे का दुःख अपना ही दुःख है—ऐसी जिस हृदय की वृत्ति बन गई है, अथवा यों कहिये कि दूसरे के दुःख को देखकर जो हृदय द्रवित हो जाता है, वह हृदय मानो मूर्तिमन्त करुणारस का ही बना हुआ है। परन्तु हृदय की वृत्तियों का ऐसा विकास एकदम आप ही आप कैसे हो सकता है? प्रेम प्रेम से ही बढ़ता है, प्रेममय सत्कार्यों के ही द्वारा प्रेम-वृत्ति का विकास होता है, और ये प्रेममय सत्कार्य करने के लिए संसार को छोड़कर और कौन स्थान मिल सकता है? संसार में रहकर सांसारिक व्यवहारों को भली भांति साधते हुए प्राणिमात्र मे प्रेमभाव दृढ़ करने से हृदय की प्रेमवृत्तियां विकसित होती जाती हैं, और अन्त में, जैसा कि ऊपर कहा है, परमार्थ में स्वार्थ का लय हो जाता है, परोपकार ही मनुष्य का स्वार्थ बन जाता है।

हमने ऊपर यह भली भांति बतलाया है कि मनुष्य एक संस्कारशील और अनुकरणशील प्राणी है। संसार में सदाचार-सम्पन्न और सद्गुणी मनुष्यों की संगति मिलने के अनेक अवसर आते रहते हैं। उनके सहवास से, मनुष्यों की अनुकरणशीलता के कारण, सद्गुणों के विकास मे बहुत सहायता मिलती है। साधुओं के सद्गुणों का चित्र जब सदैव

प्रत्यक्ष आंखों के सामने रहता है, तब हृदय का विकास होकर उसकी वृत्तियाँ उन्नत होती जाती है। सन्त-समागम की महिमा जगह जगह शास्त्रों में गाई गई है॥ राजर्षि भर्तृहरि ने कहा है :—

जाड्यं धियो हरति सिंचति वाचि सत्यम्।
मनोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति॥
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिम्।
सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्॥

अर्थात् सत्संगति बुद्धि की जड़ता को दूर करती है, वाणी को सत्य की धारा से सींचती है, मान और उन्नति का मार्ग दिखलाती है, पापों को दूर करती है, चित्त को प्रसन्न करती है, कीर्ति को चारों ओर फैलाती है—कहिये, सत्संगति क्या नहीं करती? सचमुच ही सत्संगति से सब-कुछ हो सकता है। कुली का काम करके अपना पेट भरनेवाले मावले लोग शिवाजी महाराज की संगति से उनके उच्च गुणों का अनुकरण करके, ऐसे ऐसे पराक्रमपूर्ण कार्य कर गये कि जिनके कारण आज भी इतिहास मे बड़े आदर के साथ उनका नाम लिया जाता है। साक्रेटीस के सहवास से प्लेटो के समान तत्ववेत्ता निकले, प्लेटो की सत्संगति से अरिस्टाटल के समान विख्यात पुरुष उत्पन्न हुए। शिवाजी महाराज के उच्च सदाचार के उत्तम संस्कारों का ही यह प्रभाव था कि तानाजी मालुसरे और बाजीप्रभु देशपांडे के समान वीरपुंगवों ने देश-हित के लिये अपने प्राण तक समर्पित कर दिये! अस्तु। इस सांसारिक व्यवहाररूपी रंगभूमि पर आकर नाना प्रकार के पात्र अपने-अपने उच्च नीच कर्म कर जाते हैं। श्रेष्ठ पात्रों के

और इन गुणों को बढ़ाने के लिए ही परमेश्वर मनुष्य के सामने सङ्कट उपस्थित करता है। कष्ट सहन करने से शरीर की सहनशक्ति बढ़ती है। इसी प्रकार व्यावहारिक सङ्कटों के कारण भी मनुष्य की सहनशीलता बढ़ती है; और कार्यक्षमता प्राप्त होती है। हां, उन सङ्कटों से भिड़ने की दृढ़ता मनुष्य मे अवश्य चाहिए।

गेंद को जितने ज़ोर से पटकिये उतना ही वह ऊपर उछलता है; जैसा आघात होता है वैसा ही प्रत्याघात भी होता है। अतएव जैसे सङ्कट आवें, वैसी ही उनसे मुक़ाबला करने की दृढ़ता और शक्ति भी चाहिए, तभी नैतिक सामर्थ्य बढ़ सकता है। यदि दृढ़ता नहीं होगी, तो पराजित होना पड़ेगा; और इससे हृदय में निर्बलता आने के कारण नैतिक बल भी क्षीण होगा। इसी लिए महापुरुष, सङ्कटों के आने पर उनकी परवा नहीं करते, बड़े धैर्य के साथ उनको झेलते हैं। ऐसे ही महापुरुषों के विषय मे भर्तृहरिजी ने कहा है:—

विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः।
प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति॥

अर्थात् विघ्नों के द्वारा बार-बार प्रतिरोध होने पर भी उत्तम पुरुष एक बार प्रारम्भ किया हुआ कार्य कभी छोड़ते नहीं।

बालपन मे यदि मनुष्य के मन पर सुसंस्कारों का प्रभाव नहीं पड़ता; और प्रौढ़ावस्था में शिक्षा के द्वारा यदि उसकी हार्दिक वृत्तियों का विकास नहीं होता, तो दुस्तर सांसारिक व्यवहारों में मनुष्य का पार लगना बहुत कठिन हो जाता है। विस्तृत समुद्र मे झंझावात से डोलने और डगमगानेवाली

नौका की जो दशा होती है, वही दशा उस मनुष्य की भी होती है। मनुष्य की तमाम वृत्तियों को उत्तेजित करके उनको सदाचार और नीति के पथ से भ्रष्ट करनेवाले अनेक अवसर इस जीवन-कलहपूर्ण संसार मे आते रहते है। उन अवसरों का धैर्य के साथ मुकाबला करने की शक्ति यदि नीति-शिक्षा के द्वारा मनुष्य को प्राप्त नहीं हुई, तो सदाचार से गिर जाने मे उसको कुछ भी विलम्ब न लगेगा। ऐसे मनुष्यों के उदाहरण इस संसार मे कुछ कम नहीं दिखाई देते कि जो इसी प्रकार नीति-भ्रष्ट होकर अनीति के गढ़े मे गिरकर नाश हो गये है। सदाचार की रक्षा और वृद्धि होने के लिए ही इन सांसारिक व्यवहारों की योजना हुई है, परन्तु जो मनुष्य पद-पद पर इनको जांचते हुए नहीं चलता है, उसका नाश भी अवश्यम्भावी है। इसलिए व्यवहार में विवेक को साथ लेकर सदैव चलना चाहिए। विवेक-भ्रष्ट मनुष्य की दशा भर्तृहरिजी ने, गंगाजी का बहुत सुन्दर उदाहरण देकर, बतलाई है। वे कहते हैः—

शिरः शार्वं स्वर्गात्पतति शिरसस्तत्क्षितिधरम् ।
महीध्रादुत्तुङ्गादवनिमवनेश्चापि जलधिम् ॥
अधो गङ्गा सेयं पदमुपगता स्तोकमथवा ।
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः ॥

अर्थात् गंगा पहले स्वर्ग से शिवजी के मस्तक पर गिरीं, फिर वहां से ऊँचे पर्वत पर, पर्वत से पृथ्वी पर, और पृथ्वी से समुद्र में—इस प्रकार क्रमशः फिसलती ही चली गईं, और क्षीण भी होती गईं। बस, इसी भांति विवेकभ्रष्ट पुरुष भी सौ सौ बार मुँह की खाते है!

सारांश यह है कि बाल्यावस्था में यदि मनुष्य के मन पर उत्तम संस्कार नहीं पड़ते, प्रौढ़ावस्था में नीतिशिक्षा के द्वारा यदि उसकी हार्दिक वृत्तियों का विकास नहीं होता, तो अगले व्यावहारिक जीवन मे सदाचार से फिसलने का उसके लिए बहुत भय रहता है; और एक बार नीति से फिसला हुआ मनुष्य प्रायः फिर फिसलता ही जाता है। इसलिए सांसारिक व्यवहारों में दक्ष रहकर, सदाचार और नीति के साथ चलकर, आत्मोन्नति करते हुए, जो मनुष्य अपने जीवन को सफल कर लेता है उसी का जन्म संसार में सार्थक है।

पाँचवाँ प्रकरण

सदाचार और सत्कार्य

पिछले प्रकरण में हमने यह बतलाया कि सांसारिक कर्तव्यों और व्यवहारों को सुचारु रूप से सम्पादित करने से मनुष्य की हार्दिक वृत्तियों का विकास होता जाता है; और उसका सदाचार और नीति बढ़ती जाती है। संसार नीति-शिक्षा पाने के लिए एक बहुत ही उत्तम पाठशाला ह; और इस पाठशाला मे जो परिश्रम और दृढ़ता के साथ अध्ययन करता है, वह सदाचार की परीक्षा मे बहुत उत्तम उत्तीर्ण होता है। अब हम इस प्रकरण में इस बात का कुछ विवेचन करेंगे कि सत्कार्यों का मनुष्य के सदाचार और उसकी नीति पर कैसा प्रभाव पड़ता है· और वे कैसे बढ़ते जाते है; और दुष्कार्यों से वह कैसा नीति-भ्रष्ट होता जाता है।

शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु अपने स्पर्श से सब को सुख और सन्तोष देती है, चन्द्र अपनी शीतल और आह्लाददायक किरणों से सबको सुख और आनन्द देता है, वृक्ष स्वयं धूप की तपन सहकर दूसरों को अपनी शीतल छाया से सुख और आनन्द देते है। इसी प्रकार परोपकारी पुरुष अपने सत्कार्यों से सब को सुख देता है। परन्तु जड़-सृष्टि के पदार्थों और

चैतन्य-सृष्टि के जीवों में एक बड़ा भारी अन्तर है। और वह यह कि, यद्यपि जड़-सृष्टि के पदार्थ और चैतन्य-सृष्टि के जीव, दोनों, अपने सद्गुणों से दूसरों के लिए समान ही सुखदायक होते हैं, फिर भी जड़-सृष्टि के पदार्थों के सद्गुणों का स्वयं उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वृक्ष अपनी शीतल छाया से दूसरे का सन्ताप शमन करके उसको सुख अवश्य देता है; परन्तु अपनी छाया से उसे स्वयं क्या लाभ होता है? इसी भांति सुगन्धयुक्त वायु का उसकी सुगन्ध से स्वयं उसको क्या लाभ पहुँचता है? इसी प्रकार शीतल और आह्लाद-कारक चन्द्रकिरणों से स्वयं चन्द्र को क्या कुछ लाभ पहुँचता है? कस्तूरी की खुशबू दूसरे को आनन्ददायक होती है, किन्तु कस्तूरी को इससे क्या? परन्तु चैतन्य-सम्पन्न जीवों की, और उनमे भी विशेषकर विवेक-बुद्धि-युक्त मनुष्यों की, यह दशा नहीं है। मनुष्य के परोपकारादि सत्कार्यों से दूसरों को तो सुख होता ही है; किन्तु उसके साथ ही परोपकार करनेवाले मनुष्य को भी उससे सन्तोष होता रहता है। लूले-लँगड़े इत्यादि अनाथ और निराश्रित लोगों को तथा ग़रीब विद्यार्थियों को और इसी प्रकार नाना प्रकार के दुःखों से पीड़ित पुरुषों को सहायता करने से इन लोगों को तो आराम पहुँचता ही है; किन्तु इन पर उपकार करनेवाले मनुष्य को एक प्रकार का विचित्र सुखसमाधान प्राप्त होता है।

मानवी हृदय संस्कारशील है, वह मिट्टी के ढेले के समान निश्चेष्ट नहीं है। जिस प्रकार सूर्यकिरणों का प्रवेश शुद्ध स्वच्छ स्फटिक मणि में होता है, उसी प्रकार सत्कार्य का प्रकाश कर्त्ता के हृदय पर पड़ता है, और उसका हृदय निर्मल होता जाता है। हृदय-पटल पर सब बुरे-भले कार्यों की छाप अवा-

घित रूप से पड़ती रहती है। सत्कार्यों के स्वच्छ प्रकाश से वह भी तेजस्वी होता जाता है, और काले कर्मों से उसका तेज लुप्त होता है; और अन्त में वह पूर्ण अन्धकारमय हो जाता है। सब बुरे-भले कार्यों का हिसाब और जमा-खर्च मनुष्य के हृदय में बराबर अंकित होता जाता है। कोई होशियार मुनीम भी शायद किसी समय अपना कोई जमा-खर्च भूल सकता है; किन्तु हृदय में सब बुरे-भले कर्मों का उल्लेख कभी चूक नहीं सकता। मानवी हृदय की रचना ही अपूर्व है! इस हृदय पर सब बुरे-भले कार्यों के संस्कार आप ही आप होते रहते हैं; और उन्हीं बुरे-भले संस्कारों के अनुसार मनुष्य की आत्मा उन्नत अथवा अवनत होती है।

सत्कार्यों से मन को अत्यन्त श्रेष्ठ प्रकार का सन्तोष प्राप्त होता है। उत्तम और सुगन्धित फूलों की सुगन्ध यदि हम बराबर लेते रहें, तो अवश्य ही उनकी सुगन्ध का माधुर्य्य कम होता जायगा। सुन्दर गान यदि कभी कभी हम को सुनने-को मिलेगा, तब तो हमारी रुचि उस पर बनी रहेगी; किन्तु वही गायन की आलाप यदि हमारे कानों में सदैव टक्कर मारती रहेगी, तो अवश्य ही फिर उसकी मधुरता जाती रहेगी। मतलब यह है कि आधिभौतिक सुख क्षणिक होते हैं। गीता में कहा है:—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥

अर्थात् इन्द्रियों और उनके विषयों के संयोग से जो सुख होता है, वह पहले तो अमृत के समान सुखदायक मालूम होता है, परन्तु अन्त में उससे दुःख ही होता है। ऐसा सुख

राजस है। यह सात्विक नहीं है। अँगरेज़ी में भी इसी आशय की कहावत है :—

"pleasures pall"

अर्थात् इन्द्रिय-सुखों से अन्त में जी अवश्य उद्विग्न हो जाता है। परन्तु परोपकारजन्य पारमार्थिक सुख का यह हाल नहीं है। वह सात्विक सुख है। उसके विषय में श्रीकृष्ण महाराज ने गीता में यों कहा है :—

तत्सुखं सात्विकं प्रोक्तं आत्मबुद्धिप्रसादजम्।

अर्थात् अपनी बुद्धि की प्रसन्नता से जो सुख होता है, और जिसका सम्बन्ध इन्द्रियसुख से नहीं है; किन्तु आत्मा से जिसका सम्बन्ध है, वही सात्विक सुख है। बुद्धि प्रसन्न क्योंकर होती है? आत्मा से किस से सम्बन्ध है? सत्कार्यों से ही बुद्धि प्रसन्न होती है, और उससे जो सुख मिलता है, वही पारमार्थिक अथवा आत्मिक सुख है। इस सुख से मनुष्य कभी तृप्त नहीं होता, इसके विषय में मनुष्य की रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है।

जैसा कि ऊपर बतलाया, सत्कार्यों से मन को जब श्रेष्ठ प्रकार का सन्तोष मिलता जाता है, तब हृदय की क्षुद्र वृत्तियों की शक्ति धीरे-धीरे क्षीण होती जाती है, और सत्कार्यों की ओर प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। जिस प्रकार शरीर में रक्त संचार की क्रिया यदि यथोचित रूप से जारी रहती है, तो शरीर में शक्ति बनी रहती है, और इस कारण किसी प्रकार का रोग उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार सत्कार्यों से मनको उच्च श्रेणी का संतोष जब मिलता जाता है, तब हृदय में तामस-वृत्तियों का प्रादुर्भाव नहीं होने पाता। गीता में कहा है :—

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।

अर्थात् चित्त की प्रसन्नता से सब दुखों का नाश होता है। यह बिलकुल ठीक है। मानवी हृदय का धर्म ही है कि सत्कार्यों से उत्पन्न होनेवाले श्रेष्ठ आनन्द से हृदय की श्रेष्ठ वृत्तियों की उन्नति होती जाती है। परमेश्वर ने अपने अतर्क्य चातुर्य और दयालुता से मनुष्य को यह हृदयरूपी परमोत्तम धन दिया है इसी हृदयरूपी धन के बल पर मनुष्य अपनी चाहे जितनी उन्नति कर सकता है। वेदान्त में कहा ही है कि मन ही मनुष्य के बन्ध और मोक्ष का कारण है। हृदय को उन्नत बनाकर मनुष्य परब्रह्म की पदवी तक पहुँच जाता है। सांसारिक व्यवहारों मे भी हम कहा करते हैं कि "देखो, भाई, यह मनुष्य नहीं देवता ही है।" यह सब हृदय की उन्नति से हो सकता है।

कई लोगों का यह सिद्धान्त रहता है कि, कहां का सत्कार्य. और कहाँ का दुष्कार्य ! "खाओ, पीओ, सब सुख पाओ, कभी न लाओ मन में खेद।" जिस प्रकार के कर्मों से हम को आनन्द मिले, वही कर्म करो। परन्तु ऐसे लोगों को सच्चा सन्तोष और शुद्ध आनन्द कभी मिल नहीं सकता। हां, उनकी क्षणिक वासनाओं की तृप्ति अवश्य हो जायगी; परन्तु विषय-वासनाओं की केवल तृप्ति ही तो सच्चा सुख नहीं है। और फिर वासनाएँ भी स्थायी रूप से तृप्त नहीं होतीं। इनका तो यह हाल है कि इनको जैसे-जैसे इन्द्रियों के विषय-भोग मिलते जाते है, वैसे ही वैसे ये और भी अधिक बढ़ती जाती है। और उन वासनाओं की उस प्रज्वलित अग्नि में हृदय की उपकारी सद्वृत्तियों की आहुति पड़ती जाती है। अथवा यों कहिये कि सद्वृत्तियों के अंकुर उस जलती हुई

विषयाग्नि की लपट से बिलकुल झुलस जाते हैं। सत्कार्यों से जो श्रेष्ठ और शुद्ध आनन्द मिलता है, उसकी तुलना उच्च से उच्च विषयानन्द से भी नहीं की जा सकती। किसी मादक द्रव्य के सेवन से तात्कालिक शारीरिक और मानसिक बल अवश्य आ जाता है; परन्तु क्या यह बनावटी बल कभी भी उस बल का मुकावला कर सकता है कि जो मनुष्य को अपने उत्तम स्वास्थ्य में स्थायीरूप से प्राप्त होता है? मादक द्रव्य के सेवन से जो जोश और उत्तेजना आती है, वह सच्ची नहीं है, उसके कारण अन्त में शरीर क्षीण और निर्बल हो जाता है। वात-विकार से भी कभी-कभी मनुष्य जोश से उछलने लगता है, किन्तु क्या वह सच्चा जोश कहा जा सकता है? दुष्कार्यों से हृदय की नीच वृत्तियां जब जागृत हो जाती हैं, तब उच्च वृत्तियों का लोप अवश्य ही हो जाता है। परमात्मा ने मानवी हृदय की रचना ही ऐसी की है कि, उसमे एक ही काल मे दो परस्पर-विरुद्ध वृत्तियों का विकास नहीं हो सकता। जिस ज़मीन में कांटे हैं, उसमे उत्तम धान्य के बीज क्या कभी उग सकते है? एक ही पदार्थ एक ही समय में ठंढा और गरम कैसे रह सकता है? जिस प्रकार ऊसर जमीन में बीज नहीं जमता, उसी प्रकार दुष्ट मनोवृत्तियों से घिरे हुए हृदय मे सद्वृत्तियों का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। सारांश यह है कि सत्कार्यों से होनेवाला आनन्द ही सच्चा आनन्द है; और इसी आनन्द के द्वारा हृदय की सद्वृत्तियों का विकास होता है; और उत्तरोत्तर सत्कार्य करने के लिए मनुष्य अधिकाधिक प्रवृत्त होता है। दुष्कार्यों से मन को सच्चा समाधान नहीं होता; और दुष्कर्मों में प्रवृत्त करनेवाली आसक्ति ही बढ़ती जाती है। जैसे समुद्र के बलवान् नक्रों के इधर-उधर

संचार के कारण पानी की स्थिरता नष्ट हो जाती है; और सर्वत्र क्षुब्धता पैदा हो जाती है, उसी प्रकार दुष्कार्यों से उत्पन्न होनेवाली दुष्ट वासना के कारण हृदय की शान्ति और स्थिरता बिलकुल नष्ट हो जाती है: और चंचलता तथा अनीति का साम्राज्य बढ़ता जाता है।

यह ऊपर कहा गया है कि मानवी अन्तःकरण संस्कार-शील है। सदाचार और नीति के मार्ग पर जनेवाले यात्री के लिए सुसंस्कार ही उत्तम साधन-सामग्री है। नीति के अति उच्च और प्रकाशमान शिखर पर पहुँचने के लिए सुसंस्कारों का ही सोपानमार्ग (ज़ीना) बनाना चाहिए। परन्तु यदि मनुष्य के हृदय पर बार बार बुरे संस्कार ही अपना प्रभाव डालते रहेंगे, तो अनीति की पिशाचिनी अवश्य उसे आ घेरेगी। घड़ी के स्प्रिङ्ग का एक एक घेरा घुमाने से जब कुञ्जी भर जाती है, तब घड़ी व्यवस्थित रीति से चलती रहती है। इसी प्रकार संस्कार भी हृदयरूपी घड़ी को गति देनेवाले एक प्रकार के स्प्रिङ्ग के घेरे ही हैं। हृदय पर जो संस्कार पड़ते हैं वे प्रायः बुरे-भले कार्यों से पड़ते हैं; और वही संस्कार आगे चलकर जब प्रबल हो जाते हैं, तब मनुष्य को बुरे-भले कार्यों में प्रवृत्त करते हैं। कर्मों से संस्कार और संस्कारों से कर्म उत्पन्न होते हैं। इन दोनों का पारस्परिक बड़ा घना सम्बन्ध है। ऐसी दशा में सत्कार्यों के द्वारा हृदय को संस्कृत करने का प्रयत्न प्रत्येक मनुष्य को अवश्य करना चाहिए। सत्कार्यों से होने वाले सुख और आनन्द का अनुभव ज्यों-ज्यों मनुष्य को होता जायगा, ज्यों-ज्यों वह इस आनन्द और सुख का स्वाद चखता जायगा, त्यों-त्यों उस स्वाद के लिए सत्कार्य करने को वह और भी अधिक उत्तेजित होता जायगा; और फिर दुष्कार्यों

की ओर से स्वाभाविक ही उसे घृणा हो जायगी। एक बार अमृत का स्वाद मिल जाने पर फिर मामूली जल किसको अच्छा लगेगा? सूर्य को छोड़कर खद्योत की चाह किसको होगी? घृत छोड़कर तेल कौन पसन्द करेगा?

सत्कार्यों से हृदय की उन्नति होती है अवश्य; और यह उन्नति करने के लिए मनुष्य को वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्यों का उत्तम रूप से पालन करना चाहिए। उक्त कर्तव्य कैसे पालन करना चाहिए—इस विषय में गीता में कहा है :—

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

अर्थात् अध्यात्मबुद्धि से मेरे तईं सब कर्मों का अर्पण करके और आशा ममता छोड़कर युद्ध करो। यह संसार भी एक युद्धभूमि ही है। ईश्वर में चित्त रखकर अपने सब कर्तव्यों को करते रहो; और उनका फल ईश्वर को अर्पण करो, किसी में ममता न रखो; और न किसी की आशा रखो। कार्य करने के तुम अधिकारी हो, फल की इच्छा रखने के नहीं। हम केवल निमित्तमात्र है, करने-करानेवाला ईश्वर है। इस विस्तृत संसार को उसी ने उत्पन्न किया है, उसी की शरण मे जाओ। उसी को समर्पित करने के हेतु से अपने सब पवित्र कर्तव्य कर्म सदैव करते रहो। यदि तुम मे यह अहंकारभाव उत्पन्न हो जायगा कि कर्त्ता हम हैं, तो कार्य उत्तम रीति से नहीं होगा, और उसका परिणाम भी उत्तम नहीं होगा और यदि कृष्णार्पण-बुद्धि से काम करोगे, तो तुम्हारे हृदय का अहंकारभाव नष्ट हो जायगा; और क्रमशः पवित्र तथा शुद्ध होकर उन्नत बनेगा।

सब का सारांश यह है कि, हृदय की फलासक्ति, ममता, इत्यादि दुष्ट वृत्तियों को दूर करके, चित्त स्थिर और शान्त रखकर, कर्म करना चाहिए। चित्त की वृत्तियों को स्थिर और शान्त रखकर यदि कर्तव्य किया जाता है, तो उससे श्रेष्ठ आनन्द प्राप्त होता है; और हृदय की उन्नति होती है। जिस मन मे कोई विकार नहीं है, वही शान्त होता है; और सत्कार्यों के द्वारा उस पर बहुत अच्छे संस्कार पड़ते हैं, इससे हार्दिक वृत्तियों का विकास होता है। जैसे मलीन दर्पण मे किसी पदार्थ का स्वरूप शुद्ध दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार कलुपित हृदय में संस्कारों का प्रतिबिम्ब ठीक-ठीक नहीं पड़ता। जैसे किसी वस्त्र मे रंग देने के पहले उसको धोकर स्वच्छ और निर्मल करना होता है, तब उस पर रंग अच्छा खिलता है, इसी भांति हृदय की शुद्धता होने पर उस पर सत्कार्यों के संस्कारो का रंग भी अच्छा खिलता है। मतलब यह है कि चित्त-वृत्तियों के अस्थिर होने पर कर्तव्य भली भांति नहीं पूर्ण हो सकता; और कर्तव्य के भली भांति सम्पादित न होने के कारण हृदय पर उत्तम संस्कार भी नहीं पड़ते। हृदय की निर्दोषावस्था में यदि कर्त्तव्य-कर्म किये जाते हैं, तो उनसे उच्च श्रेणी की शान्ति, सुख और सन्तोष मिलता है; और हृदय उन्नत होता है।

एक बात और भी है। वह यह कि यदि हमारे हृदय की वृत्तियां स्थिर और शान्त नहीं रहतीं, तो कर्तव्य समुचित रूप के पूर्ण करने के लिए जिन गुणों की आवश्यकता होती है, उन गुणों का प्रादुर्भाव भी हमारे हृदय मे नहीं होता। हृदय को स्थिर और शान्त रखकर यदि कर्तव्य किया जाता है, तो धैर्य, उत्साह, दृढ़ता, इत्यादि आवश्यक गुणों की वृद्धि होती

है; और कार्यक्षमता आती जाती है। प्रकृति अस्वस्थ होने पर प्रतिपक्षी से सामना करने के लिये क्या कोई वीर आगे बढ़ सकता है? उसके हृदय में उत्साह ही न रहेगा। इसी भांति हृदय की स्थिर दशा मे जो सद्गुण बढ़ते हैं, वे उसकी अस्थिर अवस्था मे कैसे विकसित हो सकते हैं?

इसी प्रकार यह भी ध्यान मे रखना चाहिये कि चित्तवृत्ति स्थिर रखकर जब मनुष्य कर्तव्य करने लगता है, तब उसके हृदय में ऐसी दृढ़ सद्बुद्धि धीरे-धीरे उत्पन्न होने लगती है, कि जो उसको सदैव सत्कार्यों की ओर प्रवृत्त करती रहती है; और इस सद्बुद्धि से कर्तव्यनिष्ठा बढ़ती है। यह कर्तव्य-निष्ठा हृदय की अत्यन्त श्रेष्ठ वृत्ति है। इस कर्तव्यनिष्ठा की ज्योति ज्यों-ज्यों अधिकाधिक प्रकाशित होती जाती है, त्यों त्यों सद्गुणों की वृद्धि होती जाती है; और मनुष्य की नैतिक उन्नति तेज़ी के साथ होने लगती है। राजर्षि भर्तृहरि कहते है :—

मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दुःखं न च सुखम्।

अर्थात् जो दृढ़ पुरुष कार्य करने मे एक बार तत्पर हो जाता है, वह फिर बीच में आनेवाले सुखदुःखों की परवा नहीं करता। इसीका नाम कर्तव्यनिष्ठा है। यह कर्तव्यनिष्ठा जब मनुष्य में उत्पन्न हो जाती है, तब मनुष्य किसी प्रकार के भी विघ्नबाधाओं की परवा नहीं करता; और अपने कर्तव्य पर चट्टान की तरह अटल हो जाता है। जो कर्तव्यनिष्ठ मनुष्य अपने सत्कार्य को पूर्ण करने का दृढ़ संकल्प कर लेता है उसको उसके सत्कार्य से परावृत कराने मे कोई भी शक्ति समर्थ नहीं हो सकती। महाकवि कालिदास ने अपने कुमार सम्भव में इस विषय मे क्या ही सुन्दर उक्ति की है :—

क इप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः ।
पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत् ॥

अर्थात् अभीष्ट कार्य सिद्ध करने के लिए दृढ़ता धारण करनेवाले मन और नीचे की ओर प्रवाहित होनेवाले जल के स्रोत को कौन पीछे हटा सकता है? ठीक ही है, जिस महापुरुष के हृदय में कर्तव्य-निष्ठा ने घर कर लिया है, उसका तन, मन, धन, सब कुछ यदि कर्तव्य में ही लग जाय, तो इसमें आश्चर्य क्या है?

जितने भी महापुरुष संसार में हो गये हैं, उनके जीवन-चरित्र पढ़ने से जान पड़ता है कि कर्तव्य-निष्ठा का गुण उनमें अवश्य ही था। शिवाजी महाराज के विषय में एक आख्यायिका इस प्रकार प्रसिद्ध है। महाराज जब कि दिल्ली से औरंगजेब के पंजे से छूटकर आरहे थे, मार्ग में तबीयत खराब हो जाने के कारण किसी गांव में एक ब्राह्मण के घर ठहर गये। औरंगजेब को जब यह समाचार मालूम हुआ कि शिवाजी हमारे पंजे से निकल गये, तब उसने उनकी तलाश में चारों ओर अपने जासूस भेजे। इधर महाराज जिस गांव में ठहरे थे, वहां भी कुछ लोग आकर उनकी तलाश करने लगे। औरंगजेब के धार्मिक जुलम से वैसे ही लोग पीड़ित हो रहे थे, फिर उसमें भी बादशाह के भेजे हुए वे यमदूत महाराज शिवाजी का पता लगाने के लिए उक्त गांव के लोगों को और भी अधिक तंग करने लगे। लोग बहुत हैरान हुए। यह समाचार वह ब्राह्मण, जिसके घर में महाराज ठहरे थे, प्रतिदिन विस्तार के साथ उनको बतलाया करता था। अवश्य ही उस ब्राह्मण को यह नहीं मालूम था कि हमारे घर में ठहरा हुआ

महापुरुष शिवाजी है; क्योंकि महाराज उस समय किसी साधू के वेश मे थे। परन्तु वह ब्राह्मण स्वाभाविक ही वार्तालाप करते करते कहने लगा कि दक्षिण मे जो शिवाजी नाम का महापुरुष पैदा हुआ है, वह न जाने कब हमको बादशाह के अत्याचारों से छुड़ावे! कहते है कि यह वचन सुनते ही महाराज शिवाजी की कर्तव्य-निष्ठा ऐसी उद्दीपित हो उठी कि उनकी सूरत बदल गई! कर्तव्य-निष्ठा का तेज उस समय उनमें इतना बढ़ गया कि वह हृदय में न समाया; और उसकी प्रभा उनके मुखमण्डल पर चमकने लगी!

हमने यह ऊपर बतलाया कि चित्तवृत्ति को स्थिर रखने का अभ्यास बढ़ाने से धीरे-धीरे सद्‌बुद्धि उपजती है; और कर्तव्य-निष्ठा बढ़ती है, इससे मनुष्य के द्वारा सत्कार्य होते हैं! और उसकी सदाचार-सम्बन्धी उन्नति होती जाती है। परन्तु ध्यान में रखना चाहिए कि चित्तवृत्ति को स्थिर रखने का अभ्यास करते समय काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मात्सर्य इत्यादि शत्रु और आशा, ममता, तृष्णा, इत्यादि उनकी संगिनी पिशाचवृत्तियां हमारे मार्ग में अनेक विघ्न उपस्थित करती है, जिससे मन में चंचलता आ जाती है; और शान्ति विचलित हो जाती है। अतएव जहाज़ का कप्तान जिस प्रकार दीपस्तम्भ के दीपक की ओर पूर्ण लक्ष रखकर अपना जहाज चलाता है, अथवा मत्स्यवेध करनेवाला कुशल धनुर्धारी उस मत्स्य को लक्ष्य करके जैसे अपना अचूक निशाना लगाता है, उसी प्रकार, किसी भी क्षुद्र वृत्ति से अपने चित्त को चंचल न होने देकर, अपने जीवन-जहाज़ को आगे बढ़ाना चाहिए—अपने कर्त्तव्य लक्ष्य का वेध करना चाहिए। शुकदेवजी महाराज के विषय मे आख्यायिका है कि जब वे महादार्शनिक विदेह राजा

जनक के यहाँ विद्याभ्यास करने गये, तब राजा ने उनकी बाल्यावस्था देखकर उनकी चित्त-एकाग्रता की परीक्षा करनी चाही, क्योंकि जो विद्यार्थी अपना चित्त एकाग्र नहीं कर सकता, उससे विद्याभ्यास नहीं हो सकता। प्राचीन काल में जो विद्यार्थी गुरुकुल मे भरती होने जाते थे, उनकी चित्त-एकाग्रता का परीक्षा गुरुलोग पहले कर लेते थे; और जब विद्याभ्यास का अधिकारी समझ लेते थे, तभी उनको अपने हाथ मे लेते थे। अस्तु। इसी प्रथा के अनुसार राजा जनक ने शुकदेवजी की परीक्षा लेनी चाही। इसके लिए उन्होंने एक सुन्दर दीवानखाना सजाया। उसमें नान प्रकार की चित्ताकर्षक और सुन्दर वस्तुएँ जगह-जगह साजी गई। इसके बाद एक दिन उसमें दरबार किया गया। दरबारी लोगों के एकत्र हो जाने पर संगीत कला-कुशल गवैयों और वेश्याओं ने अपना मधुर गायन प्रारम्भ किया। मनोहर वाद्य बजने लगे। इसके बाद राजा ने शुकदेवजी को बुलाया; और एक रूपे का प्याला खूब ऊपर तक दूध से भरकर उनके हाथ में दिया, और दीवानखाने के आसपास तीन बार घूम आने के लिये कहा। शुकदेवजी उस प्याले को लेकर राजा के आज्ञानुसार तीन बार उस दीवानखाने के चारों ओर घूम आये; परन्तु एक बूंद भी उस प्याले से नीचे नहीं गिरा। उनका चित्त एकाग्रता की परीक्षा हो गई। कवि कालिदासजी कहते हैं:—

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते।
येषां न चेतांसि त एव धीराः॥

अर्थात् चित्त को विकृत करनेवाले कारणों के उपस्थित रहते हुए भी जिनका चित्त विकृत नहीं होता, वही धीर हैं।

सारांश यह है कि चाहे जैसे मौक़े आवें, चित्तवृत्तियों को चंचल न होने देकर जब मनुष्य बराबर अपना पवित्र कर्तव्य करता रहता है, तब उसमें कर्तव्य-निष्ठा उत्पन्न होती है, वह उत्तरोत्तर सत्कार्य करने में दृढ़ होता जाता है, इससे उसे श्रेष्ठ सुख और सन्तोष प्राप्त होता है, उसका सदाचार-सम्बन्धी तेज बढ़ता जाता है।

छठवाँ प्रकरण

आत्म-निरीक्षण

पिछले प्रकरण मे यह बतलाया गया कि, निर्दोष और स्थिर अन्तःकरण में सद्वुद्धि की उपज होती है, सद्वुद्धि से कर्तव्य-निष्ठा बढ़ती जाती है, जब कर्तव्य-निष्ठा बढ़ने लगती है, तब मनुष्य के द्वारा सत्कार्य होने लगते है, सत्कार्यों से हृदय पर उत्तम संस्कार पड़ते हैं, जिससे सदाचार और नीति की वृद्धि होती है। हृदय जब दोषों से कलुषित हो जाता है, तब सद्वुद्धि का लोप हो जाता है। यदि आप चाहते है कि सत्कार्यों की ओर आपकी प्रवृत्ति हो; और आपके सदाचार की उन्नति हो, तो सद्वुद्धि रूपी स्वच्छ और निर्मल गङ्गाजल का प्रवाह आपके हृदय मे अवश्य सदैव बहते रहना चाहिए। हृदय खूब शुद्ध और पवित्र रहना चाहिए। यह पवित्रतारूपी वृक्ष बढ़े; और उससे उत्पन्न होनेवाले पवित्र और मधुर सत्कार्य्यरूपी फलों का स्वाद प्राप्त हो—यह कैसे हो? उस पवित्रतारूपी ज्योति का तेज कैसे स्थिर रखा जाय? इस ज्योति का तेज हृदय मे फैलाकर दुष्कार्य-प्रवर्तक दोषरूपी अन्धकार का नाश करना चाहिये। शरीर में जब तक कोई कष्ट मौजूद है, तब तक वह सुदृढ़ कैसे हो सकता है? वृक्ष मे लगी हुई दीमक जब

तक निकाल न डाली जाय तब तक वह कैसे बढ़ सकता है? जहां असुरों का राज्य है वहां देवताओं की कैसे चल सकती है? जहां दारिद्र्य विराजमान है, वहां लक्ष्मीदेवी का प्रवेश कैसे हो? जहा दुर्जनों का संचार हो रहा है, वहा सज्जनों का ठिकाना कैसे लगे? विषले सर्प के तीव्र विष से दग्ध हो जानेवाले वृक्ष मे सुरस कहां से मिले? मतलब यह है कि यदि सद्गुणों का उदय और उनका यथोचित विकास चाहते है, तो दुर्गुणो का हृदय से उच्छेद होना आवश्यक है।

सद्गुणों का उदय और उनका विकास होने के लिए दुर्गुणों का लोप होना चाहिये सही; परन्तु यह हो कैसे? बिल्ली के गले मे घंटी बांधी कैसे जाय? बिल्ली से चूहों को बहुत कष्ट पहुँचता था, उसके दूर करने के लिए चूहों की एक बड़ी सभा हुई। उस सभा में अनेक उपायो के विषय मे चर्चा और ऊहापोह हुआ। अनेक मूषक सभासदों ने अनेक उपाय सुझाये! किन्तु उनमें से एक भी सभा को पसन्द नहीं आया। कुछ उपाय सर्वसम्मति से, तो कुछ बहुसम्मति से, नापसन्द किये गये। कोई उपाय ठीक-ठीक नहीं जमा। सब मूषक सभासदों ने अपनी-अपनी बुद्धि की पराकाष्ठा कर दी, किन्तु कोई उपाय सूझा नहीं। इतने में एक चतुर और बुद्धिमान मूषकराज बोलने को उठे, और कहने लगे कि "बिल्ली से चूहों को कष्ट न हो, इसका एक ही सर्वोत्तम उपाय हमारी समझ मे आता है! और वह यह है कि, बिल्ली के गले मे घंटी बांधी जाय, इससे क्या होगा कि जब बिल्ली आने लगेगी, घंटी बजेगी, और हम सब लोग सावधान हो कर अपने-अपने बिलों मे भाग जाया करेंगे।" इस उत्तम युक्ति पर सब सभासदों ने मिलकर खूब ही करतल-ध्वनि की!

चारों ओर से उस मूषकराज की बुद्धि की प्रशंसा की ध्वनि आने लगी ! परंतु इतने ही में एक प्रौढ़ अनुभवी मूषक उठा ! और बोला—"मित्रो, हमारे चतुर मूषकराज ने यह युक्ति तो बहुत ही उत्तम सुझाई है, परन्तु यह उपाय अमल में किस तरह लाया जायगा ? बिल्ली के गले मे घंटी बाँधने की युक्ति तो अच्छी सोची, किन्तु बांधेगा कौन ?" उस प्रौढ़ मूषक का यह भाषण सुनकर सब सभासद मौन हो रहे ! दुर्गुणों का निर्दलन करके सद्गुणों के स्थापन करने का उपाय सोचते समय उपर्युक्त कल्पित कहानी का स्मरण अवश्य ही हो आता है। दोषों का निर्मूलन करना चाहिए, अवश्य। परन्तु यह किया कैसे जाय ? यह कार्य भी वैसा ही कठिन है कि जैसे कोई चूहा बिल्ली के गले मे घंटी बाँधने जाय ! काम वास्तव मे सहज नहीं है। खूब चूहे खाकर जो बिल्ली काफी मज़बूत हो रही है, उसके गले में यदि कोई चूहा घंटी बाँधने जायगा, तो बात की बात मे उसको झपटकर गड़प कर जायगी ! इसी प्रकार हृदय के सद्गुणों के स्वाभाविक अंकुरों को निगल कर पुष्ट होनेवाली दोषरूपी बिल्ली सद्गुणों की वृद्धि कैसे होने देगी ?

चंचल चित्त को रोककर उसके दोषों को नाश करके, उसमे सद्गुणों की ज्योति उत्पन्न करना वायु की गठड़ी बांधने के समान कठिन काम है। अर्जुन श्रीकृष्ण से कहते हैं:—

चंचल हि मनः कृष्ण प्रमाथिबलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

अर्थात् "हे कृष्ण, यह मन अत्यन्त चञ्चल, उद्भट, बलवान् और कठिनाई से मार्ग पर आनेवाला है। इसका निग्रह

करना मुझे ऐसा दुष्कर दिखाई देता है, जैसे हवा को मोट बांधना।" सचमुच मन ऐसा ही है। किसी चित्र में यदि कुछ त्रुटि होती है, तो चतुर चित्रकार अपनी कलम से उस त्रुटि को तत्काल निकाल डालता है; परन्तु परमेश्वर के इस सजीव चित्र का कोई दोष दूर करना उतना सहज काम नहीं है। चित्र का कोई एक रंग पोंछकर उसकी जगह दूसरा रंग तुरन्त दिया जा सकता है; परन्तु मानवी हृदय के दोषों का काला रंग निकालकर उसकी जगह सद्गुणों का सात्विक सफेद रंग चढ़ाना बहुत कठिन है। कठिन भले ही हो; किन्तु असम्भव नहीं कहा जा सकता। इस विषय में श्रीकृष्णजी ने अर्जुन को उत्तर दिया है, वह इस प्रकार है:—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥'

"हे वीर अर्जुन, निस्सन्देह यह मन चंचल और निग्रह करने में कठिन है, परन्तु फिर भी अभ्यास और वैराग्य से यह वश मे किया जा सकता है।"

यदि बराबर प्रयत्न करते रहें, तो अपने दोषों को दूरकर लेना कोई असम्भव बात नहीं है। किसी कवि ने कहा है कि—

करत करत अभ्यास के जड़-मति होत सुजान।
रसरी आवत-जात तें सिल पर होत निशान ॥

इससे सिद्ध होता है कि अभ्यास से सब कुछ हो सकता है। फ्रांस के प्रसिद्ध वीर नैपोलियन बोनापार्ट कहा करते थे कि मनुष्य के लिए असम्भव कोई बात नहीं है। वे कहते थे कि 'असम्भव' शब्द सिर्फ मूर्ख लोगों के ही कोश मे मिलता

है। अस्तु। अतएव अपने हृदय के दोषों को दूर करने के लिए प्रत्येक मनुष्य को क्षण-क्षण पर इस बात का सूक्ष्म निरीक्षण करते रहना चाहिए कि हमारे अन्दर दोष कौन-कौन से हैं, और हमारे ऊपर उनका क्या प्रभाव है, तथा हम कहा तक उनमें जकड़े हुए हैं। इसी का नाम है आत्म-निरीक्षण। सदैव आत्म-निरीक्षण करते रहने की आदत डालनी चाहिए। बात यह है कि जो अपने दोषों को जान ही नहीं सकता, वह उनको दूर कैसे कर सकता है? इसलिए अपना सुधार करने के लिए आत्म-निरीक्षण की बहुत आवश्यकता है। जिस प्रकार रोग का निदान जाने बिना उसकी चिकित्सा नहीं की जा सकती, और संकटों का स्वरूप जाने बिना उनको टाल नहीं सकते, उसी प्रकार अपने दूषणों को परीक्षा किये बिना उनको अपने हृदय से निकाल भी नहीं सकते। उन्नति-शिखर पर पहुँचने के लिए आत्म-निरीक्षण करना अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है। ग्रीस देश के प्रसिद्ध तत्ववेत्ता आत्मवीर सुकरात अपने शिष्यों को सदैव यह उपदेश दिया करते थेः—

"Know thyself"

अर्थात् अपने को अच्छी तरह पहचानो। वे यह अच्छी तरह जानते थे कि सच्ची बुद्धिमत्ता आत्म-निरीक्षण में ही है, और ऐसा ही वे सदैव अपना बर्ताव भी रखते थे। प्राचीन समय में ग्रीस देश में एक यह चाल थी कि, अपोलो देवता के मन्दिर में जाकर लोग शकुन उठाया करते थे। देवता के सामने एक तिपाई पर किसी कुमारिका को बैठालते, और फिर उसके पास धूप जलाते। उस धूप के धुएं के प्रभाव में, उस कुमारिका से प्रश्न करने पर, जो कुछ उत्तर मिलता, उसी को वे सच मानते थे। उन लोगों की

यह भावना थी कि उपर्युक्त दशा में कुमारिका जो कुछ कहती है, वह देवता की प्रेरणा से ही कहती है। एक बार उस कुमारिका से यह प्रश्न किया गया कि एथेंस नगर में सब से अधिक बुद्धिमान् कौन है? इस पर उत्तर मिला कि सब से अधिक बुद्धिमान् सुकरात (साक्रटीस) है। अब यह समाचार सारे नगर में फैल गया कि अपोला देव ने सुकरात को ही सब से अधिक बुद्धिमान् बतलाया। परन्तु सुकरात को यह समाचार सुनकर कुछ भी अभिमान नहीं हुआ। इसके विरुद्ध वे अपने मन में इस बात का विचार करने लगे कि अपोलो ने हमे बुद्धिमान् क्यों बतलाया। अपोलो का दिया हुआ वह बुद्धिमत्ता का सार्टिफिकेट लेकर वे सब को दिखलाते नहीं फिरे! सच तो यह है कि सच्ची बुद्धिमत्ता संसार में आप ही आप प्रकट हो जाती है। अर्द्धदग्ध पुरुष ही इस संसार में अपनी बुद्धि की बड़ाई मारते हुए देखे जाते हैं। "अधजल गागर छलकत जाय" वाली कहावत ठीक है। साक्रटीस के समान महापुरुषों को कोरी बड़ाई कभी नहीं भाती। अपोलो ने हमको ही बुद्धिमान् क्यों बतलाया, इस विषय में वे खूब विचार करने लगे। इसके बाद उन्होंने एथेंस के उस समय के सब प्रसिद्ध प्रसिद्ध बुद्धिमान् और चतुर लोगों से मिलने, उनसे सम्भाषण करने और उनके गुण दोषों की जांच करने का प्रारंभ किया। वे आज किसी कवि से मिलते तो कल किसी दार्शनिक की भेंट करते। इस प्रकार एथेंस के सभी बड़े-बड़े कवियों दार्शनिकों और राजनीतिज्ञों की उन्होंने मुलाकात की, उनसे वार्तालाप किया, और उनके गुण दोषों का पूर्णतया पर्यालोचन किया। इससे उनको यह पता चला कि प्रत्येक मनुष्य अपने को तो बड़ा बुद्धिमान् और दूसरे को बिलकुल मूर्ख समझता

है ! जहाँ देखिये वहीं कुछ न कुछ अभिमान और गर्व पाया जाता है। सभी अपने को बड़ा समझते है। अपनी सच्ची परीक्षा करने की कोई कोशिश नहीं करता। ऐसी दशा जब साक्रेटीस ने देखी, तब उनको इस बात का रहस्य मालूम हो गया कि अपोलो ने हमको ही बुद्धिमान् क्यों बतलाया। उनका कथन था कि, हम अज्ञ है, हमारी बुद्धि परिमित है, हममे अनेक दोष है—इस बात को हम अच्छी तरह जानते हैं, और अन्य लोग नहीं जानते—इसी कारण अपोलो शायद हमको सब से अधिक बुद्धिमान बतलाता है।

प्रिय पाठको, आत्म-निरीक्षण करके अपने निज के गुण दोषों की यथोचित और ठीक ठीक विवेचना करनेवाले साक्रेटीस के समान और कितने लोग संसार मे निकलेगे? बुद्धिमत्ता के विषय मे उनको पूरा पूरा मान मिला, फिर भी उन्होंने इसके विषय में पूरा पूरा विचार किया; और अपने को छोटा ही माना। इससे जान पड़ता है कि संसार में जो मनुष्य अपने को छोटा मान कर चलते हैं, वही वास्तव मे बड़े हैं। ऐसे मनुष्यों से कभी अनीति का बर्ताव नहीं हो सकता। कहते है कि स्वर्ग से नीति और न्याय को पृथ्वी पर अवतीर्ण करनेवाले आत्मवीर साक्रेटीस हैं। अवश्य ही ऐसे महापुरुषों के विषय मे यह कथन मिथ्या नहीं कहा जा सकता। समुद्र मे गहरा गोता लगाकर जब नीचे से बालुकामय पदार्थ लाते हैं, तब उस मे कहीं मोती, कहीं सीप, कहीं कंकड़, कहीं शंख, इत्यादि भिन्न भिन्न वस्तुएं दिखाई देती है। इसी प्रकार जब हम मानवी हृदय के अन्दर—स्वयं अपने हृदय के अन्दर—पैठ कर खोज करते हैं, तो कहीं धैर्य, कहीं भय, कहीं दया कहीं निर्दयता, कही स्वार्थ, कहीं परोपकार, कहीं राग, कहीं

द्वेष, कहीं मद, कहीं मत्सर, कहीं सहानुभूति इत्यादि भिन्न भिन्न गुण-दोष हमको दिखाई देते हैं। मानवीय हृदय गुण-दोषों का एक बड़ा विचित्र मिश्रण है; और इन्हीं स्वाभाविक गुण-दोषों के अनुसार मनुष्य का आचरण हुआ करता है। मनुष्य अपने इन स्वाभाविक गुण-दोषों मे जकड़कर उन्हीं का गुलाम बन जाता है! इनका प्रभाव मनुष्य पर कभी कभी इतना अधिक हो जाता है कि उसका विवेक कुछ भी काम नहीं करता! ऐसी दशा में अपने गुण-दोषों का विवेचन और ठीक ठीक निरीक्षण न करना बहुत बड़ी भूल होगी।

आत्म-निरीक्षण करने का निश्चय करके जब तक हम बराबर इसके लिये प्रयत्न नहीं करते रहेंगे, तब तक निरीक्षण करने की आदत हमको नहीं लड़ेगी। निरीक्षण करने का उद्देश्य मन में रखना पड़ेगा। कभी कभी यों ही आत्मनिरीक्षण करने की बात मन मे लाने से काम नहीं चलेगा। हमारे जीवन में अनेक ऐसे अवसर आते है कि जब हम सोचा करते हैं कि हमारे हाथ से अमुक काम अच्छा नहीं हुआ, अथवा अमुक काम करने मे हमने बड़ी जल्दी की। किन्तु क्या इस प्रकार के सोच-विचार से कुछ लाभ होता है। कदापि नहीं, इसका कारण यही है कि दोषों के निरीक्षण करने का हम कोई स्थायी विचार अथवा निश्चय नहीं रखते। कोई विचार यों ही स्वाभाविक मन में लाना अलग बात है और उसके विषय में ठीक ठीक विवेचन करने का स्थायी निश्चय करना अलग बात है। जैसे कोई परीक्षा देने के लिए पुस्तकों का अध्ययन करना एक बात है; और यों ही पुस्तकें पढ़ना दूसरी बात है। परीक्षा की तैयारी का विचार

मन में लाकर जब हम अध्ययन करते हैं, तब हमारा वह अध्ययन सावधानी के साथ और नियमित रूप से होता है, अतएव वह पक्का होता है। किसी पुस्तक में शंकापूर्ण और कठिनाई के स्थान कौन कौन से हैं, उनका स्वरूप क्या है, और उन शंकाओं तथा कठिनाइयों का समाधान कैसे किया जा सकता है, इत्यादि बातों का ठीक ठीक विचार करके जो अध्ययन किया जाता है, वही अच्छा होता है। सिर्फ ऊपर ऊपर से पढ़ जाने से विशेष ज्ञान प्राप्त होने की सम्भावना नहीं रहती। इस प्रकार जब हम सदाचार-सम्बन्धी उन्नति करने का उद्देश्य रखकर अपने दोषों का निरीक्षण करने लगते हैं, तब हमें यह अच्छी तरह मालूम हो जाता है, कि हमारे दोषों के व्यापार और उनकी चेष्टाएं क्या क्या हैं, और उनसे हमको क्या क्या नुकसान होता है। आत्म-निरीक्षण का उद्देश्य मन में न रखते हुए यों ही अपने दोषों के विषय में कुछ विचार अपने मन में लाने से यह प्रकट नहीं होता कि हम उन दोषों को दूर करके-अपने आप को सुधारना चाहते हैं। ऐसा अकसर देखा जाता है कि जब कोई भलामानस अच्छे उद्देश्य से भी हमारे दोष हमको दिखाने लगता है, तब हम उल्टे उसी पर और गरम हो उठते हैं, और इसके लिए उसको दो चार खरी-खोटी सुनाकर भी अपने दोषों का ही समर्थन करने को तैयार हो जाते हैं। इस बात का अनुभव प्रत्येक को कुछ न कुछ अवश्य ही होगा। अब बतलाइये, ऐसा क्यों होना चाहिए? इसका कारण यही है कि हम अपने दोषों के निरीक्षण का सच्चा भाव अपने हृदय में नहीं रखते हैं। जब हम ऐसा उद्देश्य रखेंगे, तब दूसरे पर गरम होने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। आत्म-

निरीक्षण करके आत्मसुधार करने की इच्छा और उद्देश्य जो मनुष्य अपने मन में रखेगा, वह दूसरे की बात पर विचार करेगा, क्रुद्ध नहीं होगा। आत्म-निरीक्षण करके अपने दोषों की यथोचित पर्यालोचना करने में अहंकार बहुत विघ्न डालता है, क्योंकि दोषों का निरीक्षण करने की बुद्धि जहां आई कि अहंकार-वृत्ति के मूल पर ही कुठाराघात होता है। कहावत है कि, "अपनी आँख का शहतीर नहीं दिखता और दूसरे की आँख का टेंटर दिखता है।" अपने बड़े बड़े दूषण भी हमको दिखाई नहीं देते, किन्तु दूसरों की छोटी छोटी त्रुटियाँ हमको बहुत जल्द दिखलाती हैं। अहंकार का प्रभाव ही ऐसा है कि मनुष्य दूसरे की बुराई देखने में बहुत दक्ष रहता है, परन्तु उसको अपनी निज की बुराई नहीं दिखाई देती। इसी भाव को ध्यान में रखकर किसी कवि ने कहा है कि:—

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न दीखै कोय।
जो दिल खोजूं आपना, मुझसा बुरा न कोय॥

परन्तु अहंकार के कारण अपना दिल खोजने की बुद्धि ही मनुष्य मे नहीं आती। यह भावना न्यूनाधिक परिमाण में हम सब में पाई जाती है कि, हम जो कुछ करते हैं सो सब ठीक ही करते है। यदि ऐसा न होता, तो दूसरे के द्वारा भूल दिखलाई जाने पर हम उसको मानने मे इधर उधर कभी न करते। अपनी भूल स्पष्ट स्वीकार कर लेने की उदारता बहुत थोड़े लोगों मे पाई जाती है। हम लोगो मे प्राय. ऐसा देखा जाता है कि यदि कभी हम अपनी भूल स्वीकार भी करेंगे, तो बहुत नाखुशी के साथ! बालपन मे मनुष्य का मन दर्पण की भांति स्वच्छ और निर्दोष होता है, अहं-

कार से अलिप्त रहना है, यही कारण है कि, ज्ञान के किरण उसमें शीघ्रतापूर्वक प्रवेश करते रहते हैं। परन्तु मनुष्य जब कुछ प्रौढ़ होने लगता है, बालपन की वह निर्दोष वृत्ति चली जाती है, और धीरे धीरे वह अहंकार से घिरने लगता है। शीशे मे जब गर्द-गुबार बैठ जाता है तब वस्तु का प्रतिबिम्ब उसमें ठीक ठीक दिखाई नहीं देता। इसी भांति अहंकार से दूषित हो गया हुआ मन वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। नैतिक वायुमण्डल अहंकार के काले मेघों से जब व्याप्त हो जाता है, तब ज्ञान-सूर्य का स्वच्छ प्रकाश उसमें कैसे पड़ सकता है? आलिवर क्रामवेल का कथन है किः—

"Paint me as I am."

अर्थात् "मुझ को वैसा ही चित्रित करो, जैसा कि मैं हूँ।" यह कथन विचारणीय है। मान लीजिये कि कोई चित्रकार, किसी की सूरत उतारते समय, उसकी सूरत की त्रुटियां न दिखलाते हुए सिर्फ उसकी सुन्दरता ही दिखलावे, तो क्या वह उसकी सच्ची तसवीर होगी? नहीं, वह उसकी काल्पनिक ही तसवीर कही जायगी! कोई चरित्रकार, किसी का चरित्रचित्रण करते समय, यदि अपने चरित्रनायक के दोष न दिखलावे, और उसके केवल गुण ही गुण दिखलावे, तो क्या कभी वह सच्चा चरित्र-लेखक माना जा सकता है? इसलिए हमको अपने दूषणों को छिपाने का प्रयत्न न करना चाहिए, किन्तु अपने नैतिक आचरण के उन दोषों की ओर पूर्ण ध्यान रखकर, अत्यन्त सावधानी के साथ, हमे उनकी जॉच करनी चाहिए। हमको यह सीखना चाहिए कि हम अपना न्याय अपने ही सामने निष्पक्ष भाव से कैसे करें। न्याय का कांटा समतोल रखना चाहिए। अहंकार-भाव के कारण दोषों का पलड़ा हलका रखने की

सातवाँ प्रकरण

आत्मसंयमन

पिछले प्रकरण मे हमने यह बतलाया कि सदाचार की उन्नति करने के लिये अपने हृदय के दोषों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेना अत्यन्त आवश्यक है; और इसके लिये प्रत्येक मनुष्य को आत्मनिरीक्षण करने की आदत डालनी चाहिये। आत्मनिरीक्षण करके अपने दोषों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेना सदाचार-सोपान का महत्वपूर्ण अंश है। मानवी जीवन की सफलता तभी हो सकती है, जब उक्त दोषों का प्रभाव धीरे धीरे हृदय से घटता जावे, और अन्त में वे बिलकुल नष्ट हो जावें।

ईश्वर की सृष्टि में सज्जन दुर्जन सभी रहते हैं। समाज कितना ही सभ्य और सुशिक्षित क्यों न हो; किन्तु फिर भी थोड़े बहुत दुष्ट उसमें रहते ही है। इसी भांति परमेश्वर की बनाई मानवी प्रकृति निस्सन्देह एक सुन्दर वस्तु है; परन्तु फिर भी उस प्रकृति मे जो स्वाभाविक दोष होते है, वे रहते ही हैं। प्रकृति बिलकुल निर्दोष कैसे हो सकती ह। सर्वाङ्ग-सुन्दर प्रकृति किसकी होगी? जड़ प्रकृति से सम्बन्ध रखनेवाले दोष न्यूनाधिक परिमाण में सब जगह पाये जाते है। साधा-

रण मनुष्यों में तो कोई ऐसा प्राणी नहीं देखते कि जो प्रकृतिजन्य दोषों से सर्वथैव मुक्त हो। महाकवि कालिदास ने कहा है :—

शैत्यं हि यत् सा प्रकृतिर्जलस्य।

"शीतलता पानी का धर्म है।" इसी प्रकार प्रकृतिजन्य गुण-अवगुण मौका पाकर यदि प्रकृति में दिखाई दें, तो यह प्रकृति का साधारण धर्म ही कहा जायगा। जिस मनुष्य का स्वभाव शंकाशील है, उसको बात बात में शंका होती रहती है और वह बड़ा हैरान रहता है। क्रोधी मनुष्य को समय समय पर क्रोध पछाड़ता ही है; और उसका हृदय क्षुभित हो उठता है। जो मनुष्य लोभी है, वह मौका पाकर दूसरे का गला काटे विना न रहेगा। जिनको डरने की आदत है, वे विना कारण डरते रहते हैं, और इससे उनकी हानि भी कुछ कम नहीं होती। दूसरे की उन्नति देखकर जलने की जिन मनुष्यों को आदत पड़ी होती है, वे अपने मत्सर के ही कारण त्रस्त रहते हैं। मतलब यह है कि प्रत्येक मनुष्य कुछ न कुछ स्वाभाविक ही प्रकृति-दोषों से बँधा हुआ है।

ऐसी दशा में प्रश्न उठता है कि तो फिर इन दोषों का प्रभाव धीरे धीरे कम करके क्या इनको बिलकुल निर्मूल कर सकते हैं? इस दोषरूपी पिशाच की गति कुंठित करने के लिए क्या कोई सच्चा मंत्र है? यदि कोई उपाय नहीं होगा, तो यह पिशाच सर्वत्र संचार करके चारों ओर उपद्रव मचाता ही रहेगा! यह मानवी हृदय दोषों से व्याप्त ही रहेगा; और उन्नति की सारी आशा मिट जायगी! दुर्गुणों के कीचड़ में जहां एक बार हृदय फँस गया कि फिर उसे ऊपर कौन

निकाल सकेगा? क्या कोई उपाय तुरन्त इसके लिए किया जा सकता है? आत्मनिरीक्षण की आदत से दोषों का यथार्थ ज्ञान अवश्य हो जायगा, तथापि उनका नाश जब तक न होगा, तब तक लाभ ही क्या है? रोग का निदान ठीक ठीक करना अवश्य एक महत्वपूर्ण बात है, परन्तु केवल निदान हो जाने से रोगी को क्या लाभ? जब तक भली भांति चिकित्सा न की जाय, रोग कैसे अच्छा होगा? उन्मत्त हाथी को शृंखलाओं से जकड़कर मार्ग मे लाना होता है। मतवाले अपराधी को भी बेड़ियां डालकर वश मे करना होता है, उपद्रवी मनुष्य को मुसके बांधकर सीधा करते हैं। इसी प्रकार महाबली दोषों की प्रबलता कम करके उनको नाश करने का कार्य आत्मसयमन के द्वारा करना पड़ता है।

समाज मे सर्वत्र शान्ति स्थापित करके उसकी सुख समृद्धि बढ़ाने के लिए जिस प्रकार सब सामाजिक उपद्रवों को नाश करना पड़ता है उसी प्रकार मनुष्य के चित्त की स्थिरता और शांति को नष्ट करके उसको अवनति तक पहुँचानेवाले दोषों का उच्छेद आत्मसंयमन के द्वारा करना चाहिए। समाज मे यदि शासन-पद्धति न हो, तो चारों ओर दुर्जनों की वृद्धि होकर झगड़ा-फिसाद और अराजकता फैल जाय, तथा समाज की दशा पतित हो जाय। इसी प्रकार आत्मसंयमन का गुण यदि मनुष्य में न होगा, तो दुर्गुणों की वृद्धि और सद्गुणो का लोप होता जायगा। हृदय की सद्वृत्तियों का नाश हो जायगा, और अनीति का साम्राज्य छा जायगा।

हृदय के दोषों की प्रबलता धीरे धीरे कम करके उनको जड़ से नाश करने के लिए, जैसा कि हमने ऊपर बतलाया,

आत्मसंयमन ही एक मात्र उत्तम उपाय है। मौका पाकर प्रकृतिजन्य दोष ज्यों ही अपना सिर उठाने लगे, त्यों ही आत्मसंयमन के तीक्ष्ण शस्त्र का उन पर दृढ़तापूर्वक प्रबल आघात करना चाहिए। इस प्रकार यदि बराबर हम आघात करते रहेंगे, तो दोष उभड़ने न पावेंगे; और धीरे धीरे निर्बल होकर नष्ट हो जायगे। इसके लिए आत्मसंयमनरूपी शस्त्र पना वर खूब तेज रखना चाहिये। इस शस्त्र को हम ज्यों ज्यों तीक्ष्ण करते जायँगे, त्यों त्यों हमारी नैतिक उन्नति अधिकाधिक होती जायगी, परन्तु इस शस्त्र पर जङ्ग लगकर यदि वह कुंठित हो जायगा, तो दुर्गुणों के प्रबल हो जाने के कारण नैतिक ह्रास होता जायगा। सदाचार और नीति के भव्य और सुन्दर भवन मे सुख से निवास करने के लिए आत्मनिरीक्षण और आत्मसंयमन के द्वारपालों की अत्यन्त आवश्यकता है। आत्मनिरीक्षण करते हुए आत्मसंयमन करने की यदि आदत बढ़ती जायगी, तो आत्मोन्नति निस्सन्देह होती जायगी।

प्राचीन काल में ग्रीस देश के एथेंस नगर मे एक बार एक ज्योतिषी आया। ज्योतिष-शास्त्र मे उसकी प्रवीणता प्रसिद्ध थी। उसकी परीक्षा करने के लिए लोगों ने एक सभा की; और उसमे उसको बुलाया। उस सभा मे प्रसिद्ध तत्ववेत्ता साक्रेटीस भी उपस्थित थे। सभा के कई लोगो के स्वभाव के गुण-दोषों के विषय मे उस ज्योतिषी से अनेक प्रश्न किये गये; और अन्त में साक्रेटीस के स्वभाव के विषय मे पूछा गया। इस पर उसने कहा कि, साक्रेटीस, जान पड़ता है, बड़े क्रोधी स्वभाव का मनुष्य है। उस ज्योतिषी के मुख से यह वचन सुनते ही सभा में एकदम हँसी छा गई। साक्रेटीस को लोग

बहुत ही शान्त स्वभाव का समझते थे, इसलिए जब ज्योतिषी ने उसे क्रोधी बतलाया, तब सभी लोग उस ज्योतिषी की हँसी उड़ाने लगे! यह सारा हाल साक्रेटीस स्वयं वहां बैठे हुए देख ही रहे थे। उन्होंने जब देखा कि लोग व्यर्थ ही के लिए ज्योतिषी की हँसी कर रहे हैं, तब उन्होंने लोगों को सम्बोधन करके कहा, "भाइयो, आप लोग ज्योतिषी महाशय की व्यर्थ ही हँसी उड़ा रहे हैं। मेरे स्वभाव के विषय में ज्योतिषी जी ने जो कुछ बतलाया है, वह अक्षरशः सत्य है। इसमें आप लोगों के लिए आश्चर्य मानने योग्य कोई बात नहीं है। ज्योतिषी जी के कथनानुसार मेरा स्वभाव क्रोधी अवश्य है। हां, बात इतनी ही है कि, मुझे जब क्रोध आने लगता है, तब मैं तुरन्त ही उसे रोक लिया करता हूँ। क्रोध का विकार मेरे हृदय मे उठता है; परन्तु मैं आत्मसंयमन के द्वारा उसे जहां का तहां ही दाब देता हूँ"। यह कह कर उस महापुरुष ने लोगों का समाधान किया। पाठक समझ सकते है कि अपने इस श्रेष्ठ आत्मनिग्रह के कारण ही साक्रेटीस इतने वड़े सदाचारी पुरुष हो गये। जो मनुष्य अपने गुणदोषों की सावधानीपूर्वक जॉच करके, दोषों को दमन करने का प्रबल प्रयत्न करता है, उसकी कीर्ति सदाचार और नीति के विषय में अवश्य ही होती है। साक्रेटीस के समान जितने भी महापुरुष संसार मे हो गये हैं, उन सभी मे आत्मसंयमन का श्रेष्ठ सद्गुण विशेष रूप से जरूर पाया जाता है। इसमे सन्देह नहीं कि जिन मनुष्यों का हृदय दोषों से प्रक्षुब्ध रहता है उनके हाथ से संसार के महान् कार्य कदापि नहीं हो सकते।

प्राचीन काल में इटली देश मे, जूलियस सीज़र की मृत्यु के बाद, बड़ी गड़बड़ी मच गई। उस समय एक तेजस्वी तारा

उदय हुआ कि जिसने चारों ओर फैले हुए अन्धकार को नष्ट किया। वह तेजस्वी तारा आगस्टस सीज़र है। रोम का पहला सार्वभौम सम्राट यही था। इतिहास से जाना जाता है कि इस महापुरुष में भी आत्मसंयमन-शक्ति विशेष थी। इजिप्ट की रानी क्लीयोपाट्रा ने अपने सौन्दर्य से और अपनी चेष्टाओं से जूलियस सीज़र और एन्टोनियस के समान पुरुषों को भी मोहित कर लिया था! एन्टोनियस तो इस रानी की चेष्टाओं में खूब ही फँस गया था। उसका वृत्तान्त पाठकों को रोम के इतिहास* में पढ़ना चाहिए। आगस्टस को भी इस स्त्री से मिलने का एक बार मौका आया था; परन्तु उससे मिलते समय आगस्टस ने जान-बूझकर अपनी गर्दन ऊपर को नहीं उठाई, उसकी ओर बिलकुल देखा ही नहीं; और समयोचित वार्तालाप करके वहाँ से लौट आया। उसके इस आत्मनिग्रह की सर्वत्र प्रशंसा की जाती है। इस प्रकार वह आत्मनिग्रह के विषय में सदैव सजग रहता था; और इसी कारण वह अपने राज्य का बहुत उत्तम प्रबन्ध कर सका। शिवाजी महाराज के आत्मदमन की एक आख्यायिका इस पुस्तक के किसी पिछले प्रकरण में लिखी जा चुकी है। अपने देश में परकीयों को दबाकर स्वराज्य-स्थापना करनेवाले इस महापुरुष में इतने उच्च दर्जे का आत्मदमन होना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

आत्मसंयमनरूपी शस्त्र के द्वारा हृदय के दोषों से मुकाबला करने में ही सदाचार की उन्नति होती रहती है। इस

---

* यह इतिहास भी हमारी तरुण-भारत-ग्रन्थावली में निकल चुका है।

आत्मिक युद्ध में ही मानवी जीवन का सच्चा रहस्य प्रकट होता है। इसी में सच्चा पुरुषार्थ है। परन्तु हृदय के दोषों से युद्ध न करते हुए स्वयं उनके वश में हो जाना मानो अपनी कायरता दिखलाना है। अपनी मानसिक दुर्बलता के कारण यदि हम अपने दोषों का प्रतीकार न कर सकेंगे, तो हम सदाचार के उच्च शिखर पर कदापि न चढ़ सकेंगे।

क्या हम देखते नहीं कि आत्मसंयमन का गुण न होने के कारण ही हज़ारों लोग अवनति के गर्त में गिरकर नाना प्रकार की यातनाएं भोग करते हैं? ज्यों ही प्रकृति में जड़ांश से प्रेरित होकर कोई भली-बुरी इच्छा उत्पन्न हुई, और मनुष्य उस इच्छा की तृप्ति करने की धुन में लगा, त्यों ही उसकी नैतिक अवनति प्रारम्भ हो जाती है। इस प्रकार की तमोगुणमयी भौतिक इच्छा का प्रतिरोध करके जब तक उसका नियमन न किया जायगा, तब तक अन्तःकरण निर्मल नहीं रह सकता। अफीमची मनुष्य के लिए अफीम खाने का समय आया; और उसी समय यदि उसे अफीम नहीं मिली, तो उसकी क्या दशा हो जाती है? जैसे पानी के बिना मछली तड़पे, वैसे ही वह नशे के बिना तड़पने लगता है। उसकी यह दशा क्यों होती है? कारण यही है कि अपनी इच्छा को दाबने का प्रयत्न उसने कभी नहीं हुआ। व्यसन बढ़ता ही गया, और अन्त में उसने उसकी स्वतंत्रता हरण करके उसको अपना गुलाम बना लिया! ऐसा ही हाल आप प्रत्येक व्यसन का समझ लें। हृदय की वृत्तियों पर यदि हम अपना कब्जा नहीं रक्खेंगे, तो वे उभड़ती जायँगी; और अन्त में हम उनको रोकने में असमर्थ हो जायँगे। परिणाम यह होगा कि हमारा नैतिक चरित्र बिलकुल गिर जायगा। भगवद्गीता में कहा है:—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥

अर्थात् इन्द्रियों और उनके विषयों में प्रीति और द्वेष अवश्य ही होते हैं। किन्तु हमको इन प्रीति और द्वेषों में न फँसना चाहिए, क्योंकि ये हमारे बटमार शत्रु हैं। हमको बरबाद किये बिना नहीं छोड़ेंगे।

विज्ञान का एक यह नियम है कि जहां गुरुत्वाकर्षण का मध्य होता है, उस जगह पदार्थ स्थिर रहता है। इस नियम को स्पष्ट करके दिखलाने के लिए लकड़ी की एक पुतली तैयार की जाती है। उसमे गुरुत्वाकर्षण का ऐसा प्रयोग किया जाता है कि उस पुतली को आप कैसा ही डालिये, वह बैठ ही जाती है। बस इसी भांति मनुष्य को आत्मसंयमन के द्वारा अपनी हार्दिक वृत्तियों को स्थिर रखने का प्रयत्न सदैव करते रहना चाहिए। गीता के दूसरे अध्याय में स्थिर बुद्धि का महत्व अच्छा बतलाया है। प्रकृतिजन्य गुण-दोषों के कारण हृदय डगमगाने लगता है। उस समय उसकी दशा तूफान में फँसी हुई नौका के समान हो जाती है। ऐसी अवस्था में आत्मसंयमन के द्वारा ही उसको स्थिर करना पड़ता है।

आत्मनिरीक्षण के प्रकरण मे हमने यह बतलाया है कि अपने दोषों के निरीक्षण करने का उद्देश्य मन में रखकर उसको सिद्ध करने का निश्चय करना पड़ता है। इसी प्रकार दुर्वृत्तियों का जब हृदय में आविर्भाव होने लगता है, तब तुरन्त ही उनके नियमन करने का निश्चय करना पड़ता है। उस समय दृढ़तापूर्वक नियमन करने का प्रयत्न यदि हमसे न हो सका, तो प्रकृतिजन्य दोषों का प्रभाव, हमको न मालूम

होते हुए, हमारे हृदय पर बढ़ता जाता है। कोई भी कार्य हो, जब तक उसको सिद्ध करने का हम दृढ़ता-पूर्वक संकल्प नहीं करेंगे, तब तक उसमें सफलता की आशा रखना दुराशामात्र है। मानसिक धैर्य और दृढ़ निश्चय की सब जगह आवश्यकता है, और जिस जगह स्वाभाविक प्रकृति-धर्म के कारण निश्चय के डिग जाने का डर रहता है, उस जगह हमें अपने को बहुत सम्हालना पड़ता है।

आत्मसंयमन खास कर तीन प्रकार का है। भगवद्गीता के विभूतियोग में श्रीकृष्ण जी ने कहा है कि—

इन्द्रियाणां मनश्चास्मि।

"इन्द्रियों में मन मैं हूँ"। अवश्य ही सारी इन्द्रियों में मन मुख्य है, और हमारे भले-बुरे व्यवहार के सारे सूत्र इसी के हाथ में रहते है। इसमें सन्देह नहीं कि राज्यसूत्र राजा के हाथ में रहते हैं, परन्तु, फिर भी, राजा की आज्ञा को कार्य-रूप में परिणत करने का अधिकार उसके नीचे के अधिकारियों के ही हाथ में रहता है, और इस कारण उन अधिकारियों का महत्व भी कम नहीं समझना चाहिये। इसी प्रकार व्यवहार के सब सूत्र यद्यपि खास कर मन के अधीन रहते हैं, तथापि उस भले बुरे व्यवहार को कार्यरूप में परिणत करने का अधिकार दूसरी ही जगह रहता है—अर्थात् उन संकल्प-विकल्पों को कार्य का स्वरूप हमारी इन्द्रियों के द्वारा मिला करता है। ऐसी दशा में, स्थूल दृष्टि से देखते हुए, मानसिक, कायिक और वाचिक, ये तीन प्रकार की क्रियाएं हैं, और इन तीन प्रकार की क्रियाओं का नियमन भी, मानसिक, कायिक और वाचिक, इन तीन प्रकार से ही है।

अच्छा, अब हम पहले मानसिक संयम का विचार करेंगे। मन का इस प्रकार नियमन करना चाहिए कि, हृदय में दुष्ट संकल्प उठने ही न पावें। इस बात का पक्का निश्चय कर लेना चाहिए कि दुष्ट विचारों से अपने मन की शान्ति भंग नहीं होने देंगे। स्वाभाविक प्रकृति-धर्म का स्वरूप भली भांति परख कर, प्रकृतिधर्म-प्रेरित बुरे विचारों का तत्काल ही नियमन करना चाहिये। यदि तत्काल ही उनका नियमन नहीं किया जाता, तो उन बुरे संकल्पों को कार्य का स्वरूप प्राप्त होने लगता है, और मनुष्य नीति मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है। शरीर में ज्वर का संचार होने के पहले ही उत्तम वैद्य जान लेता है कि, अब ज्वर आनेवाला है, और उसके प्रतीकार के लिये वह ओपधि की योजना करता है। बस, इसी भांति चित्त का विक्षेप होने के पहले ही सावधानी के साथ उसकी जांच कर लेनी चाहिये, और तत्काल ही चित्त का नियमन करना चाहिये, क्योंकि चित्त जब एक बार प्रक्षुब्ध हो जाता है तब उस प्रक्षुब्धता के आवेग में मनुष्य चाहे जैसा दुष्कार्य करने को तैयार हो जाता है। चित्तक्षोभ के कारण दुष्कार्यों का घृणित स्वरूप मनुष्य के ध्यान में नहीं आता। वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान चित्त की स्थिर और शान्त अवस्था मे ही हो सकता है। चित्त जब स्थिर और शान्त होता है, तभी सत्कार्यों की उत्तमता और दुष्कार्यों की निकृष्टता की कल्पना मनुष्य को होती है। इस लिये नैतिक उन्नति का सारा आधार मानसिक संयमन ही है। इस गुण की ज्यों ज्यों वृद्धि होती जायगी, त्यों त्यों नीति मे सुधार होता जायगा। देखिये, संसार मे जितने दुष्कार्य होते हैं, सब इसी गुण के अभाव में होते हैं। इस गुण की यदि उन्नति होती

जायगी, तो मनुष्य की हार्दिक सद्वृत्तियों का विकास भी उत्तमता से होगा, और मानवी जीवन सुखमय बन जायगा। परन्तु यह हो कैसे? पहले तो अपने दोषों का ही यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की अनेक लोगों को इच्छा नहीं होती, और यदि किसी किसी को इच्छा भी होती है, तो दोषों का ज्ञान प्राप्त करके उनके नियमन करने का यथोचित प्रयत्न उनसे नहीं हो सकता। ऐसी दशा में मनुष्य प्रायः अपनी प्रकृति का ही गुलाम बन जाता है। परन्तु उन्नति और विकास ही जब कि मानवी जीवन का रहस्य है तब फिर क्या उसको सिद्ध करने के लिए हमको पूर्ण प्रयत्न न करना चहिए? अपनी उन्नति और प्रगति के लिए यदि हम भारी प्रयत्न न करेंगे, तो अवश्य ही हमारा जीवन गिरता जायगा। महाकवि मिल्टन ने कहा है :—

"Awak, arise, or be forever fallen."

अर्थात् "जागो, उठो, अथवा सदैव के लिए पड़े ही रहो।" निस्सन्देह, यदि समय पर नहीं जागेंगे, नहीं उठेंगे, तो फिर सदैव ही पड़े रहने की नौबत आ जायगी, महासाधु नानक जी ने कहा है:—

जागो रे जिन जागना, अब जागन की बार।
फेर कि जागो नानका, जब सोये पायँ पसार॥

अवश्य ही अपनी उन्नति करने के लिये मनुष्य को सदैव सजग रहकर अविश्रान्त परिश्रम करना चाहिए। विना कष्ट और परिश्रम किये उन्नति नहीं हो सकती। श्री समर्थ रामदास स्वामी ने अपने "दासबोध" ग्रन्थ में कहा है कि, "कष्ट के विना राज्य नहीं मिलता; कष्ट के विना कोई फल

नहीं मिलता, और न विना किये कोई कार्य सिद्ध होता है।"
टांकी की चोटें सहने पर ही पत्थर में देवतापन आता है।

अच्छा, अब कायिक संयमन का कुछ विचार करना चाहिये। प्रत्येक भला-बुरा कार्य करने के लिए पहले मन में सकल्प उठता है; और फिर उसको सिद्ध करने के लिए मनुष्य साधारणतया हाथ, पैर इत्यादि इन्द्रियों से काम लेता है। पहले सङ्कल्प उठता है, फिर कार्य किया जाता है—यही क्रम है। ऐसी दशा में मानवी शरीर का उपयोग सत्कार्य करने में ही होना चाहिए। परमेश्वर ने हमको शरीर दिया है, सो इसलिए कि इसके द्वारा संसार में हम भले। भले कार्य करके सदुद्देशों में सहायता पहुँचावे। इसके विरुद्ध यदि हम अपने शरीर का दुरुपयोग करेंगे, तो अवश्य ही परमेश्वर का हम पर कोप हुए विना न रहेगा। पहले तो बुरा विचार ही मन में लाना पाप है; और फिर उस विचार के अनुसार शरीर से कार्य करना और भी घोर पाप है। इसलिए मनुष्य को चाहिये कि अपने शरीर की क्षण क्षण पर जांच करते रहे कि इसके द्वारा कोई बुरे कार्य तो नहीं होते है, कि जिनका प्रभाव न सिर्फ संसार के लिए हानिकारी है; किन्तु हमारे जीवन को भी मिट्टी में मिलानेवाला है। महाकवि कालिदास कहते है:—

शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्।
—कुमारसम्भव।

अर्थात् शरीर ही सम्पूर्ण धर्मों के साधन का मुख्य कारण है। ऐसे महत्वपूर्ण अपने इस शरीर का यथोचित नियमन करके, उसको शुद्ध और पवित्र तथा हृष्ट पुष्ट रखकर, सत्कार्य

में ही उसको लगाना चाहिए। प्रसिद्ध अँगरेज़ ग्रन्थकार स्मिथ साहब कहते हैं :—

"Handsome is, that handsome does"

अर्थात् "सुन्दर वही है, जिसके कार्य सुन्दर हैं।" कई लोग इसलिए, कि हम सुन्दर दिखाई दें, अपने शरीर को नाना प्रकार से सजाया करते हैं, उनको समझ लेना चाहिए कि यदि उनके कार्य सुन्दर नहीं हैं, तो वह उनकी ऊपरी बनावट बिलकुल व्यर्थ है—सभ्य समाज में उसका कुछ भी आदर न होगा; और न उससे स्वयं उनके ही मन को सच्ची शान्ति मिलेगी।

अस्तु, अब हम तीसरे प्रकार के संयमन, अर्थात् वाक्-संयमन का थोड़ा सा विचार करेंगे। भगवद्गीता में कहा है :—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रिय हितं च यत्।

अर्थात् जो वाणी सत्य है, प्रिय है, हितकारक है; और मन को उद्विग्न नहीं करती, वही उत्तम वाणी है। इसी प्रकार की वाणी मुख से निकालना वाङ्मय तप है। बात ऐसी कहो, जो प्यारी हो, सत्य हो और हितकारक हो, उसको सुनकर किसी का मन ऊबने न लगे। ऐसी बात न कहो कि जिससे किसी के दिल को धक्का लगे। शस्त्र की मार को एक बार मनुष्य सह सकता है, किन्तु शब्द की मार सहन करना कठिन है। अतएव जब कभी कठोर वचन बोलने का मौका आ जाय, तब जिह्वा का संयम करना चाहिए। परमेश्वर ने हमारी जिह्वा को बत्तीस दांतों के पिंजड़े में बन्द करके ऊपर से होठों के कपाट लगा दिये हैं। इसमें उसका उद्देश्य यही है कि हमको जिह्वारूपी शस्त्र का बहुत सोच-समझ

कर उपयोग करना चाहिए। कई लोगों को बोलने की बड़ी आदत होती है। जहां एक बार उनका भाषण शुरू हुआ कि फिर बस घंटों खतम होने नहीं आता। सुनने वाला ऊब जाता है। कई लोग कटु शब्दों की बौछार करने में बड़े तेज़ होते हैं। उत्तर-प्रत्युत्तर करते ही चले जाते हैं। परिणाम में मनो-मालिन्य हो जाने तक की नौबत आ जाती है। कभी कभी हाथापाई भी होने लगती है! इसलिए वाणी का संयमन तुरन्त ही करना चाहिए। मधुर वाग्विलास करके सुननेवालों को सन्तुष्ट करना चाहिए। महात्मा तुलसीदास जी ने सच ही कहा है कि—

तुलसी मीठे वचन तें, सुख उपजत चहुँ ओर।
बसीकरन एक मंत्र है, परिहरु वचन कठोर॥

परमेश्वर ने मनुष्य को वाणी का सामर्थ्य इसी लिए दिया है कि वह इसका उपयोग करके मानव जाति में प्रेम की वृद्धि करे; और एक दूसरे को कल्याणकारी उपदेश करते हुए सब लोग सुखी हों। परम पिता का यह उद्देश्य पूरा न करते हुए यदि हम परस्पर कलह, विवाद और झगड़ा-फिसाद करते हुए ईर्षा, द्वेष और वैमनस्य की वृद्धि करें, तो क्या कभी परमात्मा का उक्त पवित्र उद्देश्य पूर्ण हो सकता है?

प्रायः देखा जाता है कि मौका देखकर बोलना और मौका देखकर मौन धारण करना बहुत कम लोगों से हो सकता है। जिह्वा की प्रवृत्ति ही चूंकि बोलने की ओर होती है, अतएव उसका नियमन करना मनुष्य के लिये कठिन होता है। परन्तु मितभाषण एक बहुत बड़ा गुण है; और

जिन लोगों को इसका अभ्यास होता है, वे संसार के अनेक संकटों से बचे रहते हैं। मौन की महिमा गीता में श्रीकृष्ण जी ने यों प्रकट की है:—

मौनं चैवास्मि गुह्यानाम्।

अर्थात् "सब गुह्यों मौन मैं हूँ"। मौन एक बड़ा भारी रहस्य है। इसका साधन करने से वाणी की शक्ति, उसकी प्रभावशालिता बढ़ती है। इसलिए वाणी का संयमन करना भी अत्यन्त आवश्यक है।

ऊपर जैसा कि हमने बतलाया, मानसिक, कायिक और वाचिक निग्रह करके चित्तवृत्तियों को स्थिर, शान्त और प्रसन्न रखने से हृदय में सद्भावों का उदय होता है और धीरे धीरे मनुष्य के सदाचार और नीति की उन्नति होती जाती है। शरीर, वाणी और मन का नियमन करके इनको सत्कार्यों में लगाना एक बहुत बड़ा तप है। इस तप का गीता में क्रमशः इस प्रकार वर्णन किया है:—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥ १॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियं हितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ २॥
मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥ ३॥

देव, ब्राह्मण, गुरु, विद्वानों की सेवा करना, पवित्र रहना, सरलता धारण करना, वीर्यरक्षापूर्वक विद्याभ्यास करते रहना, और प्राणिमात्र को किसी प्रकार का कष्ट न देना शारीरिक तप कहलाता है। मन को उद्विग्न न करनेवाला, सत्य, प्रिय

और कल्याणकारक भाषण करना और स्वाध्याय-प्रवचन का अभ्यास सदैव रखना वाङ्मय तप कहलाता है। मन प्रसन्न रखना, सौम्यता धारण करना, मन ही मन विवेक करना, मन को अपने कब्ज़े मे रखना और सदैव शुद्ध ही भावनाएं मन मे लाना मानसिक तप कहलाता है।

गीता के इस उपदेश के अनुसार धीरे धीरे आत्मसंयमन का अभ्यास करने से सदाचार और नीति की अवश्य ही वृद्धि होगी।

आठवाँ प्रकरण

सदाचार और श्रद्धा

पिछले प्रकरण में यह विवेचन किया गया कि, हृदय के दोषों की ठीक ठीक पर्यालोचना करके, आत्मसंयमन के द्वारा उन दोषों को नाश करने का यदि बराबर प्रयत्न होता रहे, तो सदाचार की उन्नति होती जाती है। अब हम इस प्रकरण में श्रद्धा के विषय में कुछ विवेचन करेंगे। श्रीकृष्ण जी ने गीता में कहा है किः—

"श्रद्धामयोऽयं पुरुषः"

अर्थात् पुरुष श्रद्धामय है। इसमें सन्देह नहीं कि श्रद्धा मानवी हृदय का एक अत्यन्त उच्च स्वाभाविक धर्म है। मानवी हृदय एक बहुत ही विचित्र वस्तु है। जैसे कुन्दन में हीरा जड़ा जाय, वैसे ही परमेश्वर ने अपने परम चातुर्य से मानवी शरीर के कुन्दन में यह हृदयरूपी अत्यन्त मनोहर हीरा जड़ दिया है। हां, इस हृदयरूपी हीरे पर जब दोषों का थोड़ा बहुत मैल बैठ जावे, तब समय समय पर उसको साफ करके, उसका तेजस्वी और मनोहर स्वरूप स्थिर रखने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। यह प्रयत्न यदि हम करते रहेंगे, तो यह हृदय श्रेष्ठ सद्गुणों का एक बहुत अच्छा भंडार बन जायगा। हमने

पीछे यह कहा है कि मानवी हृदय मे सद्गुण बीजरूप से उपस्थित रहते है। उन बीजरूप से रहनेवाले सद्गुणों मे ही श्रद्धा उत्कृष्ट सद्गुण है।

सन्माननीय मनुष्यों के विषय मे हमारे हृदय मे यथोचित आदर-भाव उत्पन्न होना चाहिए, क्योंकि जिस हृदय में आदर-भाव न होगा, उसकी उन्नति किस प्रकार हो सकती है? यदि सत्पुरुषों के उत्तमोत्तम गुणों के विषय मे हमारे मन में,यथोचित आदरभाव उत्पन्न न होगा, तो फिर यही कहना पड़ेगा कि हम उन सद्गुणों का गौरव और महत्व बिलकुल पहचान ही नहीं सके। श्रेष्ठ सद्गुणों को भली भांति पहचान कर उनके विषय में अपने हृदय में पूज्य भाव धीरे धीरे उत्पन्न करना चाहिए। महाकवि भवभूति उत्तर-रामचरित नाटक मे कहते हैः—

व्यतिपजति पदार्थान् आन्तरः कोऽपि हेतुः।
न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः सश्रयन्ते॥
विकसति हि पतंगस्योदये पुंडरीकम्।
द्रवति च हिमरश्मा-वुद्गते चन्द्रकान्त'॥

अर्थात् दो भिन्न भिन्न पदार्थों मे जो प्रेमभाव उत्पन्न होता है, उसका कोई न कोई भीतरी कारण होता है। बाहरी कारणो से ऐसा नहीं हो सकता। देखिये, सूर्य के उदय होते ही कमल विकसित हो उठता है; और चन्द्रमा की किरणों से चन्द्रकान्त-मणि चूने लगता है—आर्द्र होकर उससे शीतल जल टपकने लगता है। महाकवि भवभूति की यह उक्ति यथार्थ जान पड़ती है; क्योंकि हमारे हृदय मे जब गुणतन्तु होंगे, तभी दूसरों के गुण के विषय मे आश्चर्य मालूम

होगा; और उस आश्चर्य के संस्कार उन तन्तुओं पर आघात करेंगे, इससे हृदय मधुर आनन्दध्वनि से व्याप्त होगा; और उसका विकास होगा। सारांश यह है कि अपने हृदय को इतना विशाल बनाना चाहिए कि जिससे दूसरों के श्रेष्ठ गुणों का महत्व हमारे मन में जमे; और उन गुणों के विषय में हमारे हृदय में आदर-भाव उत्पन्न हो। ऐसा करने से ही हमारा हृदय उन्नत होगा।

जब हम दूसरों के गुणों को खूब पहचान लेते हैं; और उनके विषय में हमारे हृदय में आदर-भाव बढ़ने लगता है, तब हमारे सदाचार की उन्नति होती जाती है। इसका कारण यह है कि जिन गुणों के विषय मे हमारे मन में पूज्यभाव उत्पन्न होता है, उन गुणों को किसी न किसी अंश में ग्रहण करने की हमको इच्छा भी उत्पन्न होती है; और उसके लिए हम प्रयत्न भी करने लगते हैं, इससे सदाचार की वृद्धि में सहायता मिलती है। कहते है कि प्रसिद्ध अंगरेज़ कवि जान मिल्टन के "Paradise lost" पैराडाइज़ लास्ट नामक काव्य की सरस कविता और उसके उन्नत विचारों के कारण लार्ड मेकाले को उक्त कवि पर बड़ी श्रद्धा थी। यहां तक कि मेकाले साहब ने एक बार उक्त काव्य को आठ बार अपने हाथ से लिखा—उसकी नक़ल की! कहते है कि मेकाले साहब ने इसी कारण यह परिश्रम किया कि जिससे उस कवि के आंशिक गुण उनमे उतर आवें। जो हो, इसमे सन्देह नहीं कि मिल्टन के विषय में उनके मन मे जो पूज्यभाव था, इसी के कारण उनको यह अनुकरणविषयक इच्छा उत्पन्न हुई; और अवश्य ही इससे उनको अपने जीवन मे बहुत लाभ हुआ। श्रीसमर्थ रामदास स्वामी के विषय में शिवाजी महाराज को

भी बड़ा आदरभाव था: और इससे छत्रपति के हृदय में निस्पृहता, प्रयत्नशीलता, विषय-विरक्ति इत्यादि अनेक गुणों की वृद्धि हुई थी।

महापुरुषों के गुणों के विषय में श्रद्धा और पूज्यभाव रखने से आंशिकरूप से वे गुण मनुष्य मे कैसे उतर आते हैं, इसके एक दो उदाहरण ऊपर दिये है। इसी भांति परमेश्वर के विषय में श्रद्धा और भक्ति रखने से उसके गुणों के अनुकरण का भी हम पर वड़ा भारी प्रभाव पड़ सकता है। मनुष्यों के सद्गुणों का अनुकरण करके जब कि हम अपने सदाचार की उन्नति कर सकते है, तब फिर परमेश्वर की अनन्त शक्ति और उसके अनन्त गुणों को धीरे धीरे पहचानने का यदि हम प्रयत्न करें—परमेश्वर पर श्रद्धा रखकर, उसके गुणों को जानकर, उनके अनुकरण करने का यदि हम प्रयत्न करें, तो अवश्य ही हम अपनी बहुत कुछ उन्नति कर सकते हैं।

परमेश्वर सर्वज्ञ, सर्वसाक्षी, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु और सर्वसद्गुण-सम्पन्न है। वेद से लेकर और अब तक के सम्पूर्ण धर्मग्रन्थों मे उसके सर्वोत्तम स्वरूप का वर्णन किया गया है। उसके सद्गुणों के मनन करने का यदि हम प्रयत्न करने लगें तो अवश्य ही उसके सर्वोच्च स्वरूप का परिचय हमको हो जायगा; और हमारे हृदय मे ईश्वर के विषय मे श्रेष्ठ आदर-भाव उत्पन्न होगा। उस आदरभाव के कारण क्या ईश्वरभक्ति से हमारा हृदय द्रवित नहीं होगा? जब हमारा हृदय भक्ति-भाव से भर जायगा, तब वह उन्नत अवश्य ही होगा। ईश्वरभक्ति के कारण हमारे मन में यह इच्छा उत्पन्न होगी कि ईश्वर के गुण किसी न किसी अंश मे हम में भी आवें। यह इच्छा उत्पन्न होने पर हमारा सुधार अवश्य होता जायगा। न्याय, दया, क्षमा,

शान्ति, इत्यादि सद्गुणों का जो निधान है, उसकी भक्ति से जब हमारा हृदय द्रवित होगा, तब अन्याय, क्रूरता, क्रोध, मत्सर, इत्यादि दुर्गुण हमारे हृदय से भग जायँगे। परमेश्वर के विस्तृत और अथाह गुण-सागर में आनन्दपूर्वक कलोलें करने-वाले हृदय में नीरसता का पता कहां से लगेगा? उन सद्गुणों का चिन्तन करनेवाला मन दुर्गुणों को ओर नहीं झुक सकता।

इसी भांति परमेश्वर की अगाध शक्ति के विषय में जब हमको भक्ति पैदा हो जायगी—उस पर पूरी श्रद्धा और विश्वास हो जायगा, तब हमको मनुष्य की मर्यादित शक्ति का पता चलेगा। परमेश्वर सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वसाक्षी, सर्वशक्ति-मान है। उसकी महिमा अपार है। मनुष्य उसके सामने एक क्षुद्र प्राणी है। एक आधुनिक कवि ने ईश्वर की महिमा का वर्णन करते हुए कहा है :—

चांद वो तारे गगन में घूमते हैं रात दिन;
तेज वो तम से दिशा होती हैं उजली वो मलिन,
वायु बहती है घटा उठती है जलती है अगिन;
फूल होता है अचानक वज्र से बढ़कर कठिन,
जिस निराले काल के भी काल के कौशल के बल।
वह करे सब काल में संसार का मंगल सकल॥

अथवा जैसा कि महाकवि कालिदास ने कहा है कि :—

विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया।

अर्थात् ईश्वर की इच्छा से कभी कभी विष भी अमृत और अमृत विष हो जाता है। ऐसी जिसकी विचित्र महिमा है, जो संसार की सब क्रियाओं का करने और करानेवाला है, बड़े बड़े सम्राटों का भी जो एक मात्र सम्राट है, और "कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम्" जिसकी शक्ति है, उसके सामने

मनुष्य एक अत्यन्त निर्बल और निमित्त मात्र है। सम्पूर्ण ब्रह्मांड में भी व्याप्त होकर जो शेष है, मनुष्य उसके सामने ऐसा ही है कि जैसे समुद्र में लवण का एक कण! इस प्रकार परमेश्वर के विराट स्वरूप और मनुष्य के क्षुद्र स्वरूप का जब ज्ञान होने लगता है, तब उस अनन्त मे इस अणु का लोप होने लगता है; और मनुष्य के अहंकार की प्रबलता घटती जाती है। "कूपमंडूक" के न्याय से जब तक हमारी दृष्टि अपने ही भर के लिए आकुंचित रहती है, तब तक अहंभाव दृढ़ रहता है; परन्तु परमेश्वर के अनन्त सामर्थ्य का जब मनुष्य निरीक्षण करने लगता है, तब अहंभाव बिलकुल गलित हो जाता है, दृष्टि व्यापक होती जाती है; अपने परिमित ज्ञान की प्रतीति मनुष्य को होती जाती है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर ऐज़क न्यूटन ने जब गुरुत्वाकर्षण का आविष्कार किया, तब उसने समझा कि उस अनन्त ज्ञान में से मानो यह एक कण आज मुझे प्राप्त हुआ! इसी प्रकार उस विज्ञानमय परमात्मा की सर्वत्र फैली लीलाओं का यदि हम यथाशक्ति निरीक्षण करने लगें, तो हमारी दृष्टि का संकुचितपन नष्ट हो जायगा, वह और भी अधिक विस्तृत होगी; और विनयभाव हमारे हृदय में उत्पन्न होगा।

परमेश्वर की विस्तृत शक्ति और अनन्त गुणों के विषय में ठीक ठीक विचार करने की आदत जब हम डालेंगे, तभी हमारे हृदय पर सुसंस्कारों का प्रभाव पड़ता जायगा। मनुष्य प्रायः अपनी सांसारिक बातों में ही विशेष निमग्न रहता है, अतएव अखिल विश्व के चालक परमेश्वर की असीम श्रेष्ठता की ठीक ठीक कल्पना सहसा उसके मन में नहीं आती; और यदि आई भी, तो वह उसके मन मे जमती

नहीं। सच तो यह है कि परमेश्वर की श्रेष्ठता का, विवेक और भक्ति के साथ, स्थिर ज्ञान जब होने लगता है, तभी हृदय उसमें तन्मय होता है, और भक्तिरस से आर्द्र होकर उन्नत बनता है। अँधेरी रात में, जिस समय आसमान साफ़ हो, उस समय उसकी ओर दृष्टि डालने से विचारवान् मनुष्य आश्चर्ययुक्त आनन्द से मुग्ध हो जाता है। नीले रंग के आकाश में छिटके हुए तारागणों को देखकर कवि ने कहा है:—

व्योम-शोभा बढ़ति निशि में नखत-अवली पाय।
मनु सितारन-जड़ित माया-नीलपट सरसाय॥

उस आश्चर्यकारक दृश्य को देखकर ज्यों ज्यों विचार कीजिए, त्यों त्यों उस परम चतुर शिल्पी के कौशल पर अधिकाधिक कौतूहल होने लगता है। उन तारकाओं की स्थिति और गति कितनी नियमित और व्यवस्थित है कि जिसके सामने मानवी रचनाओं की अपूर्णता भली भांति दृग्गोचर होती है। रेलवे का टाइमटेबल इतना व्यवस्थित और नियमित होता है; परन्तु फिर भी गाड़ियों की टक्कर समय समय पर हो ही जाती है, जिससे सैकड़ों मनुष्यों का संहार और लाखों की हानि हो जाती है; किन्तु असंख्य तारागण, अघड़ आकाश में, भ्रमण किया करते हैं; फिर भी कभी उनमें टक्कर नहीं लगती। इस नियम और व्यवस्था को देखकर सृष्टिनियन्ता के अगाध चातुर्य और अनुपम शक्ति के विषय में मनुष्य का मन आनन्द और आश्चर्य से चकित हो जाता है; और उसके हृदय मे एक अपूर्व ज्ञान का प्रकाश होता है।

इसी भांति प्राणिसृष्टि के प्राणियों की उत्पत्ति और वृद्धि के विषय में जब हम अच्छी तरह विचार करने लगते हैं, तब हमारे आश्चर्य की सीमा नहीं रहती। प्रसिद्ध ग्रीक तत्ववेत्ता आरिस्टाटल (अरस्तू) ने इस विषय का बहुत ही आश्चर्यजनक वृत्तान्त दिया है कि माता के पेट मे गर्भ की कैसी भिन्न भिन्न दशाएं होती हैं। गर्भ रहना, पेट मे उसके भिन्न भिन्न रूपान्तर, उसका पोषण, फिर उसके हाथ पैर इत्यादि इन्द्रियो की उत्पत्ति, और अन्त में पेट से उसका निकलना इत्यदि बातें ऐसी हैं कि जिनका विचार करने से मानवी बुद्धि चक्कर मे पड़ जाती है। परमात्मा की यह योजना और यह व्यवस्था सचमुच ही बड़ी विलक्षण है। इसके विषय मे हम ज्यों ज्यो विचार करते जायँगे, त्यों त्यों हमारा आश्चर्य और कौतूहल बढ़ता जायगा। अहा! मानवी शरीर की रचना कितनी आश्चर्यकारक है! वह परमेश्वर के अगाध चातुर्य और अलौकिक कौशल का एक बहुत अच्छा नमूना है। एक कवि कहता है:—

जी लगाकर आँख की देखो क्रिया कौतुक भरी।
इस कलेजे की बनावट की लखो जादूगरी॥
देखकर भेजा विचारो फिर विमल बाजीगरी।
इस तरह सब देह की सोचो सरस कारीगरी॥
फिर बता दो यह हमे ससार के मानव सकल।
इस जगत मे है किसी की तूलिका इतनी प्रबल॥

कहते हैं कि "अपना अपनी ही समझ में नहीं आता।" यह कहावत, अवश्य ही इस शरीर के विषय में बिलकुल चरितार्थ होती है। शरीर के यंत्रों और कार्यों को देखकर मन आश्चर्य से चकित हो जाता है। यह यंत्र ऐसा है कि

जिसकी कभी मरम्मत नहीं करनी पड़ती, और न घड़ी की तरह इसमें चाभी देनी पड़ती है! फिर भी इस शरीर के व्यापार कितने व्यवस्थित और नियमत रूप से चल रहे हैं। यह सम्पूर्ण प्रवन्ध सचमुच ही अतर्कनीय है। शरीर की इस यांत्रिक योजना का ज्ञान होने के कारण ही भारतवर्ष का अनीश्वरवाद दूर होने लगा; और ईश्वर के विषय में श्रद्धा और पूज्यभाव उत्पन्न होकर आस्तिकता का भाव बढ़ने लगा। इस विश्व में इसी प्रकार के अनेक चमत्कार भरे हुए हैं कि जिनका मनन करने से हृदय में श्रद्धा और भक्ति की वृद्धि होती जाती है।

हमारे बड़े बड़े धर्म ग्रन्थो में जैसा कि बतलाया गया है कि, ईश्वर सर्वसाक्षी, सर्वज्ञ, न्यायकारी और सृष्टि का नियन्ता है। यह भावना जब हृदय में उत्पन्न हो जाती है, तब मनुष्य पापाचरण करने में प्रवृत्त नहीं होता; क्योंकि वह समझता है कि परमेश्वर के सामने हम कोई अपना दुष्कार्य छिपा नहीं सकते। घर के लोगों से छिपाकर लड़के उपद्रव कर सकते हैं; परन्तु सर्वज्ञ और सर्वदर्शी परमात्मा से छिपा कर कोई कार्य नहीं किया जा सकता। अनीति से मनुष्य को बचने के लिये ईश्वर-श्रद्धा का भाव अत्यन्त आवश्यक है।

परमेश्वर के विषय मे जो श्रद्धा मनुष्य के हृदय में हो, वह शुद्ध और निर्दोष होनी चाहिये। अन्यथा नीति-दृष्टि से विशेष लाभ न होगा। परमेश्वर सर्वगुण-सम्पन्न है। ऐसी दृढ़ और शुद्ध भावना जब हृदय मे जम जाती है, और इसी भावना से प्रेरित होकर जब मनुष्य आचरण करने लगता है, तब नैतिक उन्नति अवश्य ही होती जाती है। परन्तु जब मनुष्य ईश्वर के विषय में यह भावना रखता है कि, परमेश्वर

मनुष्य का बुरा-भला करनेवाली एक भीतरी शक्ति है; और यह भावना रखकर जब वह अपने नाना प्रकार के स्वार्थों को साधने के लिए उस शक्ति का उपयोग करने लगता है, तब उससे मनुष्य की नैतिक अवनति होती जाती है। परमेश्वर न केवल सर्वशक्तिमान ही है, किन्तु साथ ही वह सर्वसद्गुण-सम्पन्न भी है। ऐसी दशा मे मनुष्य के दुष्कार्यों के विषय मे क्या कभी उसकी सहानुभूति हो सकती है ? यह सोचना बिलकुल ही अविवेकता है कि, किसी भी बुरे-भले कार्य मे उसकी सहायता हमे मिल सकती है। इस प्रकार की कल्पना भी मन में लाना मानो ईश्वर का अक्षम्य अनादर करना है। प्रायः देखा जाता है कि अज्ञान लोग दूसरे को कष्ट देकर अपना स्वार्थ साधने के लिए ईश्वर की प्रार्थना करना चाहते हैं! देवता के सामने प्राणियों के बलिदान करने का विचार भी कुछ इसी प्रकार का है। परमेश्वर के विषय मे यह भाव लाना कि निरुपद्रवी प्राणियों की बलि देने से वह प्रसन्न होता है, और बलि देनेवाले मनुष्य का कल्याण करता है, बिलकुल स्वार्थ-पूर्ण और आत्मघातक है। परमेश्वर दयालु और न्यायकारी है। क्या उसके न्याय और दया का स्रोत कभी सूख सकता है? निर्दयता क्या कभी भी उसे सहन हो सकती है? ऐसे क्रूर कार्यों से मनुष्य के पाप और अनीति की वृद्धि ही होती जायगी, इसमे सन्देह नहीं। दूसरे को कष्ट देकर अपना कल्याण कर लेने के उद्देश्य से पाखंडपूर्ण कुलाचार और मानता मानने की चाल कहीं कहीं पाई जाती है। यह चाल निन्दनीय है। ऐसे कार्यों से परमेश्वर कभी प्रसन्न नही हो सकता। यह परमेश्वर की केवल विडम्बना ही है!

पवित्र धर्म-पुस्तको के वचनों का विपरीत अर्थ करके परमेश्वर को प्रसन्न करने की इच्छा रखनेवालों के मार्ग भी पाखंडपूर्ण श्रेणी मे ही गिने जायँगे। इस विपरीत मार्ग का अनुसरण करने के कारण प्राचीन काल मे बड़े बड़े अनर्थ हो चुके है। औरङ्गजेब बादशाह ने छत्रपति शिवाजी महाराज के पुत्र सम्भाजी से कहा कि "तू मुसलमान हो, अन्यथा तेरा वध किया जायगा।" इस पर सम्भाजी ने स्पष्ट कह दिया कि "मै मुसलमान नहीं हो सकता, मेरे प्राण क्यों न चले जायँ।" यह उत्तर पाकर औरंगजेब ने अत्यन्त कष्ट देकर बड़ी निर्दयता के साथ सम्भाजी को मरवा डाला। धार्मिक पाखंड में आकर ही उसने हिन्दुओं के मन्दिर और मूर्तियों को तुड़वा डाला। उन पर जज़िया नामक अत्याचार-पूर्ण कर बैठाया। ऐसे ही अनीतिपूर्ण कार्यों से प्रजा को अप्रसन्न करने के कारण बहुत जल्द भारतवर्ष से मुगलों का राज्य चला गया! यूरोप मे भी धार्मिक पाखड के कारण बड़े बड़े घोर अत्याचार हुए हैं। ट्यूटर और स्टुअर्ट नामक राजाओं के शासनकाल मे तो इस धार्मिक जुल्म की चरम सीमा ही हो गई थी। एक राजा यदि प्रोटेस्टेन्ट लोगो को सताता, तो दूसरा कैथोलिक लोगों पर अत्याचार करता। छठवें एडवर्ड के ज़माने में कैथोलिक लोगो पर जुल्म हुआ, फिर आगे चलकर मेरी के ज़माने मे प्रोटेस्टेन्ट लोगो का अत्यन्त निर्दयता के साथ वध किया गया। रिडले और लेटिमर नामक प्रोटेस्टेन्ट विशपों को तो जीता जला दिया! घोर कृत्यों की हद हो गई! धर्म के विषय मे इस प्रकार के राक्षसी अत्याचार करना मनुष्यता मे कलंकरूप है। प्रोटेस्टेन्ट पन्थ से कुछ भिन्न प्यूरिटिन पन्थ था। इस पन्थ के लोगों पर ऐसे ऐसे अमा-

नुषीय अत्याचार किये गये कि वे लोग अन्त में देश छोड़कर अमेरिका को चले गये। अस्तु। सारांश यह है कि जिन मनोवृत्तियों के कारण परमेश्वर के विषय में शुद्ध प्रेम उत्पन्न नहीं होता, किन्तु मनुष्य में परस्पर झगड़ा-फिसाद और द्वेष उत्पन्न होता है, तथा वे एक दूसरे की जान लेने पर उद्यत हो जाते हैं, उन राक्षसी मनोवृत्तियों को श्रद्धा का स्वरूप कभी प्राप्त नहीं हो सकता। यह धार्मिक अथवा ईश्वर-विषयक श्रद्धा नहीं है, किन्तु यह पाखंड और ईश्वर का अपमान है। धर्म के नाम पर यह घोर अधर्म है! कोई धर्म भी दूसरे को कष्ट देने नहीं देता।

परमेश्वर सर्व सद्गुणों का निधान है। अतएव हमारे दुष्कार्य में वह कभी मदद न करेगा, परन्तु हां, यदि हम कोई सत्कार्य करने का प्रारम्भ करेंगे, तो अवश्य ही उसकी कृपा से हमारा वह सत्कार्य सिद्ध होगा। यह भावना मन में जम जानी चाहिए। इस भावना से हम में उत्साह, धैर्य, इत्यादि सद्गुणों की वृद्धि होगी; और हृदय की वृत्तियां उन्नत होंगी। अंगरेज़ी में एक कहावत है कि जो लोग अपनी उन्नति के लिए आप ही प्रयत्न करते हैं, परमेश्वर उनकी सहायता करता है। यह कहावत बिलकुल सच है। सत्कार्य से हृदय की सद्वृत्तियां जागृत होती हैं; और यह भावना, कि सत्कार्य में परमेश्वर सहायक होता है, उन जागृत सद्वृत्तियों को और भी अधिक उत्तेजित करती है; और इससे नैतिक उन्नति होती जाती है। बड़े बड़े कार्यकर्त्ता पुरुष इसी भावना से प्रेरित होकर सत्कार्य करते रहते हैं। इतिहास में लिखा है कि शिवाजी महाराज प्रत्येक महत्वपूर्ण कार्य प्रारम्भ करने के पहले भवानी का दर्शन करके उनकी आज्ञा ले लेते थे।

पहले तो उनको अपने सत्कार्यों पर विश्वास था, दूसरे उनमें शक्ति और युक्ति का भी अच्छा मेल था, तीसरे ईश्वर पर उनकी अटल श्रद्धा थी। इन्हीं सब कारणों से वे अपने प्रत्येक शुभ संकल्प मे पूर्णतया सफल होते थे। कर्तव्य के साथ साथ जब श्रद्धा का भी मेल जम जाता है, तब कर्तव्य में सिद्धि अवश्य ही प्राप्त होती है। श्रद्धा के धारण करने से मनुष्य मे अपने कर्तव्य के विषय मे उत्साह और स्फूर्ति उत्पन्न होती है, कार्य-क्षमता भी बढ़ती है। श्रद्धावान् पुरुष परमेश्वर पर विश्वास करके अपने सब काम करता है, और परमेश्वर के लिए ही सब कुछ करता है। स्वार्थ और अहंकार उसके हृदय में नहीं होता। इसलिए वह ईश्वरी दिव्य गुणों से सम्पन्न होकर सदाचार और नीति के मार्ग मे आदर्श बन जाता है।

वैदिक धर्म का तो यह मुख्य रहस्य है कि हृदय को श्रद्धायुक्त बनाकर यदि निष्काम भाव से आप अपना सांसारिक कर्तव्य करते रहेंगे, तो आप सदाचारी बनेंगे। सदाचार ही लौकिक और पारलौकिक मोक्ष का मार्ग है। संसार में और जितने भी धर्म है; सब नीति और सदाचार का ही प्रतिपादन करते है। 'धर्म' शब्द मूल धातु 'धृ', जिसका अर्थ 'धारण करना' है, इससे बना है। इस लिए धर्म उन कल्याणकारी नियमों और बन्धनों का एक स्वरूप है, कि जिन पर चलने से समाज का धारण और उसका हित होता है। मनुष्य के आचरण से समाज को हानि न हो, उसकी यथोचित रक्षा और उसकी उन्नति हो, यही न्यायपूर्ण आचरण धर्म का आदेश है। संसार के सब साधुसन्त और महापुरुषों ने इसी आदेश की पुकार की है। धर्म का आदेश

ईश्वर का आदेश है। ईश्वर और धर्म पर श्रद्धा रखने से हम धार्मिक और सदाचारी बनेंगे। हमारे हृदय में जब उपर्युक्त श्रद्धा का प्रकाश पड़ जायगा, तब वह कौनसा कठिन कार्य है जो हम नहीं कर सकेंगे? हम निर्भय होकर परम पिता परमेश्वर के आदेश का पालन करेंगे; जिससे मनुष्य जाति में सुख और शान्ति का विधान होगा।

नवाँ प्रकरण

समाज-निर्बन्ध

पिछले प्रकरण मे यह बतलाया गया कि धर्म, ईश्व और सत्पुरुषों के विषय में पूज्यभाव और श्रद्धा उत्पन्न हों से हृदय की सद्वृत्तियां प्रबल होती हैं, और मनुष्य के सदाचार तथा नीति की उन्नति होती है। अब इस प्रकरण में इस विषय का थोड़ा सा विवेचन किया जायगा कि नीति पर समाज और समाज के निर्बन्ध का साधारणतया क्या प्रभाव पड़ता है।

पहले प्रकरण में यह बतलाया गया कि मनुष्य समाज में रहनेवाला प्राणी है। मनुष्येतर प्राणियों में भी दूसरों की संगति में रहने की प्रवृत्ति दिखाई देती है; परन्तु उनमें बुद्धि की शक्ति नहीं, अतएव उनके समाजसंगठन में कोई विशेषता नहीं पाई जाती, उनमें बौद्धिक सामर्थ्य न होने के कारण उनका जीवनक्रम बिलकुल सादा रहता है, उनमें शक्ति नहीं रहती कि वे सुख के नवीन नवीन साधन उत्पन्न करके अपने जीवन को और विशेष सुखी बना सकें। परन्तु मनुष्य मे बुद्धि की विशेषता है, अतएव नवीन नवीन सुख-साधन उत्पन्न करके वह मानवी जीवन को अधिक सुखी

बनाने का प्रयत्न करता रहता है। नवीन सुखसाधन उत्पन्न करके जीवन को सुखी बनाने के लिए समाज मे रहना अत्यन्त आवश्यक और सुविधाजनक है, इस लिए मनुष्य अपने समाज का सगठन करके उसमे रहने लगा है। इस प्रकार से रहने की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण, और उससे होनेवाली सुविधा के कारण, संसार में भिन्न भिन्न समाज बन गये है।

मनुष्य यह जानता है कि हमारे ही समान औरों को भी सुख दुख होता है, अतएव नीतिशास्त्र के सामान्य सिद्धान्तों का परिचय उसे धीरे धीरे होता गया, और समाज के श्रेष्ठ तथा बुद्धिमान पुरुषों ने अपने उपदेश और कार्य से जब उन नीतिसिद्धान्तों को अच्छी तरह प्रकट कर दिया तब समाज धीरे धीरे उन्नत होता गया। इन सामान्य सिद्धान्तों का स्पष्ट ज्ञान प्रत्येक सुसगठित समाज मे इस समय फैल गया है। इस समय कौन कह सकता है कि दूसरे का धन अन्याय से हरण करना निन्दनीय बात नहीं है? यह कौन कहेगा कि अपने क्षुद्र स्वार्थ के लिए दूसरे को दुःख देना नीति की दृष्टि से उचित है? आज कल यह कौन समझेगा कि, अपनी भूख मिटाने के लिए दूसरे मनुष्य का प्राण लेना घृणित कार्य नहीं है? जब हम यह सुनते हैं कि, अफ्रिका के जंगली नरभक्षी लोगों ने यात्री मंगोपार्क की दुर्दशा करके उसका प्राण ले लिया; और गिद्धों की भांति उस के मांस पर टूट पड़े, तब हमारे शरीर पर रोंगटे खड़े हो जाते है। कौन बुद्धिमान मनुष्य कहेगा कि दूसरे से ईर्षा-मत्सर करना अनुचित बात नहीं है? आज-कल के समाज मे धैर्य, विनय, क्षमा, परोपकार, इत्यादि सद्गुणों की प्रशंसा

सब करेंगे। मतलब यह है कि, नैतिक दृष्टि से बुरी-भली बातों का कुछ न कुछ ज्ञान समाज मे अवश्य प्रचलित रहता है; और इस कारण समाज में एक प्रकार का नैतिक वायुमंडल उत्पन्न होता है, जिसमें रहकर प्रत्येक मनुष्य अपने नैतिक जीवन का धारण और रक्षण किया करता है।

समाज के नैतिक वायुमंडल मे प्रत्येक मनुष्य जन्मता और पलता है, अतएव प्रचलित नैतिक विचारों की छाप उस के हृदय-पटल पर अंकित हो जाती है। ये नैतिक विचार प्रत्येक मनुष्य के मन पर प्रतिबिम्बित रहते है। यह एक सर्वसाधारण की अमूल्य धरोहर है, जिससे समाज का प्रत्येक मनुष्य लाभ उठा सकता है। इस प्रकार समाज में जब कि नैतिक विचार प्रचलित हैं, तब मनुष्य के बुरे-भले कार्यों की परीक्षा भी समाज की ओर से अचूक रीति से होती रहती है; और सत्कार्यों के विषय मे प्रसन्नता और दुष्कार्यों के विषय मे अप्रसन्नता समाज की ओर से सदैव ही प्रकट की जाती है। इसी लिए सत्पुरुषों ने कहा है कि जितनी बातें लोगों मे निन्दनीय है, वे सब छोड़ दो, और जो कुछ लोग पसन्द करते हैं, वह सब हृदय-पूर्वक करते रहो।

जैसा कि ऊपर बतलाया गया, समाज जब कि सत्कार्य पसन्द और दुष्कार्य को नापसन्द करता है, तब मनुष्य के सदाचार पर समाज का बहुत ही हितकारक प्रभाव पड़ता रहता है। प्रत्येक मनुष्य समाज का एक अंग है, इस लिए उसको इस बात की ओर पूरा पूरा ध्यान रखना होता है कि, लोग उसके विषय मे क्या कहते है, और लोकनिन्दा के डर से सहसा वह कोई अनीति का बर्ताव करने का साहस नहीं करता। लोकापवाद के डर से प्रत्येक मनुष्य प्रायः अपने

आचरण में चौकस रहने का प्रयत्न करता है। मनुष्य-प्राणी कोई एकान्तवासी जन्तु नहीं, समाज से उसका घनिष्ट सम्वन्ध है; और अपना जीवन सुखी बनाने के लिये वह प्रत्येक विषय में समाज की सहायता पर अवलम्बित रहता है, अतएव ऐसा कोई भी व्यवहार करने का सहसा उसे साहस नहीं होता कि जिस पर समाज नाराज़ हो। इस प्रकार अनीति से परावृत्त करके नीति और सदाचार की रक्षा करने का कार्य समाज सदैव अपने दबाव से किया करता है। साधारणतया लोकापवाद के भय से मनुष्य अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करने में खूब सावधान रहता है। साधारण मनुष्य भी कभी कभी सोचने लगता है कि चाहे प्राण भले ही क्यों न चले जायँ; किन्तु अपकीर्ति न हो।

भगवान् कृष्ण गीता में अर्जुन से कहते हैं किः—

सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।

अर्थात् प्रतिष्ठित व्यक्ति के लिये अपकीर्ति मरण से भी बढ़कर है।

सम्भावित कहँ अपयश-लाहू।
मरण कोटि सम दारुण दाहू॥
गो० तु० दा०

सचमुच ही लोकापवाद का दबाव मनुष्य को बहुत रहता है। साथ ही प्रत्येक मनुष्य यह भी चाहता है कि, लोग हमको अच्छा कहें, हमारी प्रतिष्ठा बढ़े, यश हो, और इसके लिये वह प्रयत्न भी करता है। मतलब यह है कि लोकनिन्दा के भय से मनुष्य जिस प्रकार अनीति-कार्य से परावृत्त रहता है, उसी प्रकार लोक-प्रशंसा की चाह से वह सत्कार्य करने मे

समाज या देश के प्रति भक्ति नहीं है, अधिकांश लोग अपने ही स्वार्थ के उद्योग में लगे रहते हैं। इसका परिणाम जो कुछ होना चाहिये, वही हो रहा है। देश के साथ ही साथ वे अदूरदर्शी स्वार्थी व्यक्तियां भी कालान्तर में नष्ट हो जायँगी। इसलिये हमारे समाज में शिक्षा का विधान ऐसा होना चाहिये कि जिससे लोगों के अन्दर स्वदेशाभिमान और स्वदेशहित के भाव जागृत हों।

लोगो की नीति और सदाचार की रक्षा के लिए समाज को उनकी साम्पत्तिक दशा उत्तम बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि लोगो का चरितार्थ यथोचित रूप से चलने के लिए धन की बड़ी ज़रूरत है। यदि लोगों की आर्थिक दशा अच्छी नहीं होगी, तो उनकी नीति अवश्य बिगड़ेगी, वे सदाचार से गिर जायँगे। कहा भी है कि:—

बुभुक्षितः किं न करोति पापम्।

अर्थात् भूखा आदमी क्या पाप नहीं करता? एक दरिद्रता सारे गुणों का नाश करती है। धनहीनता के कारण ही मनुष्यों में धूर्तता, चोरी, डकैती, स्वार्थ, नाना प्रकार के व्यभिचार और अनाचार बढ़ते हैं। इस प्रकार देश की आर्थिक अवस्था का मनुष्य के सदाचार और नीति से बहुत सम्बन्ध है। इसलिए अर्थशास्त्र के समयोपयोगी सिद्धान्तों का ज्ञान कराने की व्यवस्था समाज को करनी चाहिए। समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपना ऐसा आचरण रखे कि जिससे देश की आर्थिक दशा गिरने न पावे। इस बात का विचार करना चाहिए कि कौन से ऐसे कारण हैं कि जिनसे हमारे देश की सम्पत्ति नष्ट होती जाती है। उन कारणों को दूर करना

हमारा कर्तव्य है स्वदेश के व्यापार व्यवसाय, उद्योगधंधों की वृद्धि होनी चाहिए।

लोगों के सदाचार और नीति की रक्षा के लिए समाज मे उत्तम शासन और उत्तम व्यवस्था का भी निर्बन्ध होना चाहिए। समाज का शासन और व्यवस्था यदि ठीक नहीं होती, तो लोगों के स्वाभाविक दोषों के उभड़ने का अवसर रहता है, और लोगों के सदाचार और नीति मे अन्तर आ जाता है। छत्रपति शिवाजी महाराज ने जब स्वराज्य स्थापित किया, तब उसके शासन और व्यवस्था का भी उन्होंने बहुत अच्छा प्रबन्ध किया था। राज्यशासन के महत्वपूर्ण विषयों के उन्होंने अलग अलग विभाग कर दिये थे, जिन पर योग्य अधिकारियों की नियुक्ति की थी। राज्य-प्रबन्ध के कुल आठ विभाग किये थे, जिन पर अष्ट प्रधान नियुक्त किये गये थे। यह अष्टप्रधानी राज्य-व्यवस्था महाराष्ट्र राज्य में जब तक चलती रही, तब तक स्वराज्य मे किसी प्रकार की अशान्ति नही हुई। परन्तु आगे चलकर पेशवाई मे जब वह व्यवस्था भंग होगई, तभी समाज मे नीति और सदाचार का लोप होने लगा और हिन्दू राज्य विदेशियो के हाथ मे चला गया।

उत्तम शिक्षा, उत्तम साम्पत्तिक दशा और उत्तम शासन व्यवस्था होने पर भी कुछ न कुछ स्वार्थी नीतिभ्रष्ट दुर्जन लोग समय समय पर समाज की शान्ति भंग करने का प्रयत्न करते ही रहते हैं। इसलिये इनको अनीति के मार्ग से परावृत्त करने के लिये कठोर दण्ड देने का निर्बन्ध समाज की ओर से होना चाहिये। कुमार्गगामी लोगों मे जब यह आतङ्क बैठ जता है कि अपराध करने से भयंकर दण्ड मिलेगा, तब उनके पापों में कुछ न कुछ कमी अवश्य होती है।

दुर्जनों के तिरस्कार की जितनी ज़रूरत है, उतनी ही सज्जनों के पुरस्कार की भी आवश्यकता है। ऐसे साधु-सज्जन जिनके द्वारा समाज के सदाचार और नीति की रक्षा होती रहती है, प्रत्येक समाज में कुछ न कुछ होते ही है। इनका सन्मान और आदर होना चाहिये। उनकी सेवा करके सब प्रकार से उनको पुरस्कृत करना चाहिए। विद्वानों और सज्जनों की पूजा करने से समाज में सद्भाव की जागृति होती है कहा है कि :—

परिचरितव्याः सन्तो यद्यपि कथयन्ति नो सदुपदेशम्।
यास्तेषां स्वैरकथास्ता एव भवन्ति शास्त्राणि ॥

अर्थात सज्जन पुरुष चाहे किसी समय कुछ सदुपदेश की बातें भी न करते हों, तो भी उनकी परिचर्या मे लगे रहना चाहिए; क्योंकि उनकी साधारण बाते भी सिखावन से भरी हुई होती है।

सारांश यह है कि शिक्षा, आर्थिक दशा, शासन, दुर्जनों का तिरस्कार और सज्जनों का पुरस्कार, इत्यादि सामाजिक निर्बन्धों का यदि उचित रूप से पालन किया जाता है तो लोगों के सदाचार और नीति में अवश्य वृद्धि होती है।
